।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

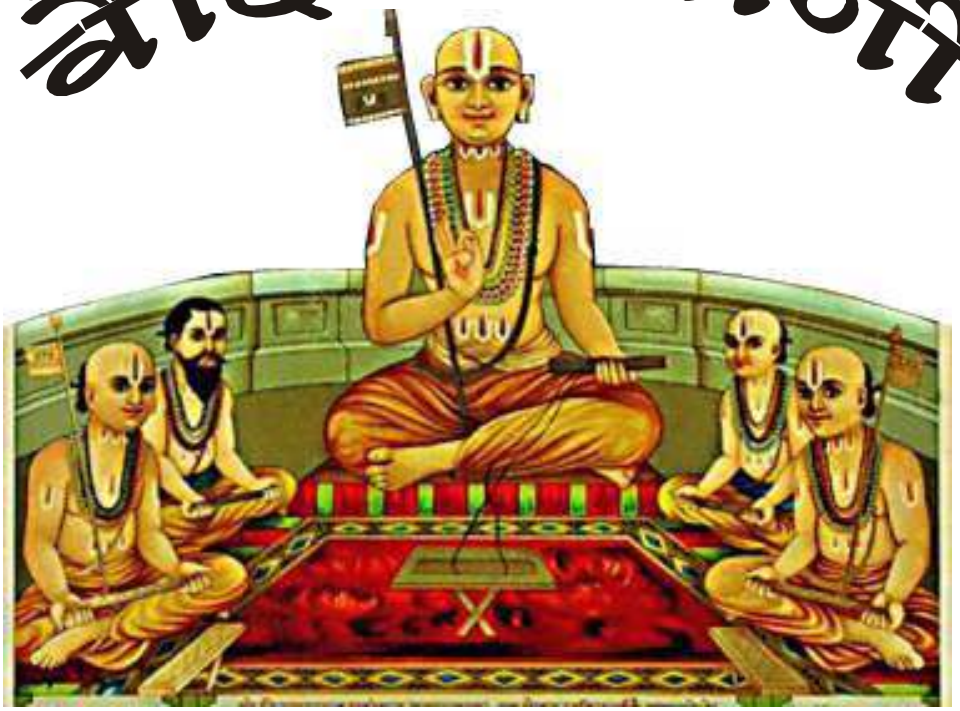

वर्ष- २५ सन्- २०१२ ई०	श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)	अंक- २ रामानुजाब्द ९९६ त्रैमासिक प्रकाशन

तया सहासीनमनन्तभोगिनि प्रकृष्टविज्ञानबलैकधामनि ।
फणामणिव्रातमयूखमण्डलप्रकाशमानोदरदिव्य धामनि ।।

अर्थात् जो अनन्त नाग परम उत्कृष्ट ज्ञान तथा बल के एकमात्र धाम हैं, जिनके फनों पर स्थित मणियों की किरणावलि से उनके पेट का दिव्य सौन्दर्य प्रकट हो रहा है, आप उन लक्ष्मीदेवी के साथ उन्हीं के ऊपर आसीन रहा करते हैं।

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

****

क्रम सं०	विषय	पृ० सं०
१.	वैदिक-वाणी—प्रभु भक्त की प्रतिज्ञा को नहीं टालते	३
२.	भगवत्प्राप्ति के लिए सुलभ उपाय शरणागति	४
३.	गुरुपूर्णिमा पर्व	७
४.	पवित्रता की आवश्यकता	९
५.	ज्ञानयज्ञ	१०
६.	श्रीराम के द्वारा उपदिष्ट वैराग्य	१३
७.	राष्ट्रहित की भावना	१५
८.	योग से ब्रह्मदर्शन	१६
९.	भगवान ने क्यों माखन चुराया	१८
१०.	भगवान अनादि हैं	२०
११.	नेत्ररोग निवारक मन्त्र	२२
१२.	वास्तुविचार	२३
१३.	कुम्भमहापर्व	२५
१४.	तीर्थराज की महिमा	२६
१५.	आलवार वैभव	२८
१६.	गृहारम्भ, जीर्णगृह-प्रवेश, नूतन-गृह-प्रवेश, द्विरागमनमुहूर्त्त	४०

●

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।

२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) ३५ रुपये तथा आजीवन सदस्यता ५०१ रुपये मात्र हैं।

३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।

४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।

५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

—सम्पादक

।। श्रीमते रामानुजाय नमः ।।

वैदिक-वाणी

प्रभु अपने भक्त की प्रतिज्ञा को नहीं टालते

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि तेषु चाप्यहम् ।।

जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरों के रूप में रहते हैं और जो जाति, आकार, स्वभाव तथा ज्ञान के तारतम्य से अत्यन्त श्रेष्ठ एवं निकृष्ट रूप में विद्यमान हैं, वे सभी प्रकार के प्राणी भगवान के लिए समान हैं। ऊँची जाति में उत्पन्न होने से, उत्तम स्वभाव से, शरीर की अधिक सुन्दरता से और अधिक ज्ञान से भवगान का कोई प्रिय नहीं होता। इसी तरह नीच जाति में उत्पन्न होने से, दूषित स्वभाव आदि से भगवान का कोई अप्रिय भी नहीं होता है। जो भगवान कृष्ण को अत्यन्त प्रेम से भजते हैं अर्थात् उनकी शरणागति करते हैं, वे उनके प्रिय होते हैं और भगवान भी उन्हें ही भजते हैं। जाति आदि से श्रेष्ठ हो या निकृष्ट, भगवान उन्हें ही अपना समझते हैं। जैसे अग्नि अपने से दूर रहने वाले प्राणियों के शीत का निवारण नहीं करता; किन्तु निकट वाला का ही करता है। वैसे ही भगवान भी अपने शरणागत भक्तों पर ही कृपा करते हैं। जो उनके शरण में नहीं आते या उनका भजन नहीं करते, वे भगवान के प्रिय नहीं होते हैं। इसीलिए भागवत ९.४ में भगवान ने कहा है कि जो भक्त स्त्री, पुत्र, धन, घर, प्राण तथा स्वर्ग आदि को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ गये हैं, मैं उन्हें नहीं छोड़ सकता। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से सदाचारी पति को वश में कर लेती है वैसे ही मेरे साथ अपने हृदय को प्रेम बन्धन में रखने वाले समदर्शी साधु मुझे वश में कर लेते हैं। साधु मेरे हृदय हैं और साधुओं का हृदय मैं हूँ। जब प्रेमी भक्त मुझे छोड़कर दूसरे को नहीं जानता है, तब मैं भी उसे छोड़कर दूसरे को नहीं जानता हूँ।

अतः भगवान ने कहा है कि अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी अनन्य भाव से यदि मुझे भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह उत्तम निश्चय वाला है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजन्ते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।

यहाँ सुदुराचार का अर्थ है अपनी जाति-धर्म के विपरीत आचरण करने वाला। अर्थात् जो अपने कर्त्तव्य कर्म को त्यागकर निषिद्ध कर्म का पालन रूप दुष्ट आचरण करता है, उस व्यक्ति को शब्द से सुदुराचार कहा गया है। अगर, सुदुराचार व्यक्ति भी अनन्य भाव से भगवान का भजन करता है तो उसे वैष्णवों में अग्रगण्य (परम सम्माननीय) समझना चाहिए; क्योंकि उसे यह निश्चय हो गया है कि भगवान श्रीकृष्ण मेरे स्वामी, गुरु, मित्र और परमभोग्य हैं। भगवान का अनन्य भाव से भजन करना और उन्हें अपने स्वामी, गुरु आदि के रूप में समझना, ये दोनों गुण जिसमें आ गये हैं, उसमें विपरीत आचरण रूप दोष बहुत छोटा है। अत एव उस दोष के कारण उसका अनादर करना उचित नहीं।।

जब सुदुराचारी पुरुष भगवान का अनन्य भाव से भजन करने लगता है, तब उसके रजोगुण और तमोगुण समूल नष्ट हो जाते हैं और वह शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है। भगवत्प्राप्ति के विरोधी आचरण सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। पुनः

कदाचार की ओर उसे लौटने की सम्भावना नहीं रह जाती है। इसीलिए भगवान ने अर्जुन से कहा है कि तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरी भक्ति में लगा हुआ पुरुष विरोधी आचरणों से संयुक्त होने पर भी नष्ट नहीं होता है; क्योंकि मेरी भक्ति की महिमा से समस्त विपरीत आचरण सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। इसलिए सुदुचारी व्यक्ति भी पूर्ण भक्त बन जाता है।

भगवान ने अर्जुन से जो यह कहा है कि तुम स्वयं प्रतिज्ञा करो कि मेरी भक्ति में लगा हुआ पुरुष का आचरण विपरीत होने पर भी वह नष्ट नहीं होता है, बल्कि मेरी भक्ति की महिमा से वह समस्त विपरीत आचरणों का नाश कर परम शान्ति प्राप्त करता है। ''यहाँ शङ्का होती है कि भगवान नें स्वयं प्रतिज्ञा न करके अर्जुन को प्रतिज्ञा करने के लिए क्यों कहा है?

भगवान की प्रतिज्ञा से भक्त की प्रतिज्ञा स्थिर होती है; क्योंकि भक्त के प्रेमवश कभी-कभी भगवान अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। जैसे भीष्म की प्रतिज्ञा के आगे भगवान ने शस्त्र न उठाने की अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी; परन्तु भक्त की प्रतिज्ञा कभी भी भङ्ग नहीं होने दी। जिस प्रकार भक्त की प्रतिज्ञा स्थिर है, उसी प्रकार मेरे भक्त का नाश नहीं होता है यह स्थिर है। इसी भाव से भगवान अर्जुन से प्रतिज्ञा करवाते हैं—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।

●

भगवत्प्राप्ति के लिए सुलभ उपाय शरणागति

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः।।

ईश्वर की शरणागति जीव के लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। मानव मात्र अपने करणीय-अकरणीय कर्मों से आबद्ध उनके फलरूपी सांसारिकता में स्वयमेव समाहित होता अपने को पा रहा है। मानव-जीवन का प्रत्येक कार्य जो उसकी स्वयं की इच्छा तथा सङ्कल्प से सम्पादित हो रहा है, अपने साथ संस्कारों के एक अटूट बन्धन को लेकर चलता है। जब मानव अपने सङ्कल्पों को प्रबल करता चलता है तो जन्म-जन्मान्तर में स्वयं उसी के द्वारा कृत शुभाशुभ कर्मों में से अपेक्षित फल प्रदान करने में समर्थ कर्मरूपी संस्कार का उदय होता है और उसे उसके प्रेय की ओर लेकर जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी इसी बात को कुछ इस तरह से कहते हैं—

जनम मरन सब दुःख सुख भोगा।
हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा।।
काल करम बस होहिं गोसाईं।
बरबस राति दिवस की नाईं।।

अर्थात् इनके सम्पादन में मानव का काई अपना वश नहीं है। वह परमपिता परमात्मा द्वारा किये गये विधान के अनुसार अपनी सङ्कल्प एवं विकल्प की मनोवृत्ति से उपजे प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण कर्म में आबद्ध होकर व्यवहार करता चलता है। अब यह उसपर निर्भर करता है कि वह उनसे किस तरह की आकाङ्क्षा, अपेक्षा, कामना पूर्ति की आशा करता है। मनुष्य सहज रूप से पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति को ही अपना अभीष्ट मानता है। संसार की सभी कामनाऐं जो इहलौकिक तथा पारलौकिक हैं, इसी धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष में स्थिति मानी जाती हैं। मनुष्य अपने कर्म और अपनी इच्छा के आधार पर सञ्चालित होता है। यह मन की शक्ति का प्रबल उदाहरण माना जा सकता है। मन का सार्थक सङ्कल्प हमें ईश्वरदर्शन भी करा सकता है, लेकिन इसके लिये प्रबल इच्छाशक्ति का सबल सङ्कल्प आवश्यक है। मन ही बन्धनप्रदाता है तथा मन ही मोक्ष प्रदान कर सकता है। गीता के अनुसार—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मनुष्य अपने मन की शक्ति के द्वारा ही अपने आचरण को पावन कर सुदुर्लभ वस्तुओं को भी हस्तगत कर सकता है।

मन को सही तथा सरल राह पर लाने के लिये प्रेरणा एवं सङ्कल्प की आवश्यकता होती है, जो सम्भवतः मानव के लिये अत्यन्त कठिन है। यहाँ पर भगवान शरणागति को इसका अचूक उपाय बताते हैं, जिसके माध्यम से मानव जब अपने श्रेय की ओर बढ़ता है तो प्रेयकारी वस्तु सहज ही प्राप्त हो जाती है और मनुष्य ईश्वर प्राप्ति रूपी अभीष्ट को भी प्राप्त कर लेता है। शरणागति में मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार का तिरोभाव होकर एक सहज सन्मार्ग प्राप्त होता है, जो मानव को उसके मानवीय धर्म में आरूढ़कर मानवता की सच्ची सेवा करते हुए आत्मकल्याण में प्रवृत्त करता है। गीता में कहा गया है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।
(गीता–१८.६६)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में अपने स्वभावज कर्म से च्युत हुए विषादग्रस्त अर्जुन को उनके शास्त्रविहित कर्म में तत्पर होने के लिए मार्ग प्रशस्त करते हुए भगवान श्रीकृष्ण उन्हें बहुशाखा में जाने से सावधान करते हैं। श्रीकृष्ण अपने मित्र, स्वजन, शिष्य, अनुपालक अर्जुन को केन्द्र में रखकर चराचर जगत् को उनके श्रेष्ठ की प्राप्ति हेतु कर्त्तव्य कर्म में सन्नद्ध होने के लिये उनका आह्वान करते हैं। जन सामान्य को अपने ध्यान में रखते हुए गीता के उपदेश का प्रणयन समाज के बदलते रूप को लक्ष्य करके दी गयी सर्वोत्तम शिक्षा मानी जा सकती है।

अर्जुन यहाँ पर जीव का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि भगवान श्रीकृष्ण सदा कल्याणकारी अखिल ब्रह्माण्डनायक कल्याण की भूमिका निष्पादन करते हुए मिलते हैं। उनकी दृष्टि में अपने सखा, सहचर, स्नेही को उसके श्रेष्ठ तक पहुँचाने कि क्रिया प्रमुख है। इसके लिए वे हर तरह के उद्यम को करने के प्रति दृढ़ सङ्कल्पित हैं।

भगवान कृष्ण योगेश्वर हैं। वे भोग के माध्यम से भी विषादग्रस्त अर्जुन को नियत कर्म पर आरुढ़ होने के लिये प्रेरित करते हैं। यह बात गीताजी के अध्ययन से सामने आती है। यद्यपि जन सामान्य में श्रीमद्भगवद्गीताजी को वैराग्य ग्रन्थ अथवा वैराग्यमार्ग के प्रणयन में सहकारी के रूप में माना जाता है, जबकि है इसके विपरीत; क्योंकि जिस गीता के श्रवण, मनन, चिन्तन एवं अवगाहन से विषादग्रस्त, अपनी विचारधारा से विरत, ध्येय से च्युत, कर्मपथ से विलग अर्जुन वैराग्य छोड़ कर्म में प्रवृत्त होता है, उसके विषय में यह धारणा सङ्कुचित, निरर्थक तथा सङ्कीर्ण मानसिकता के व्यक्तियों की सतही उपज कही जा सकती है।

भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अधिकारी पाकर ही गीता का व्याख्यान उनके समक्ष दिया था। तात्पर्य यदि हमें गीता का अध्यवसाय करना है तो सबसे पहले अर्जुन बनना होगा। अर्जुन का समर्पण, अर्जुन की विरक्ति, अर्जुन की कर्त्तव्यनिष्ठा, अर्जुन की उत्सुकता, अर्जुन की जिज्ञासा, अर्जुन की अनुकरणीयता–ये सभी समग्ररूप से हमें गीता के श्रवण, पठन तथा मनन के योग्य बनायेंगे।

यदि हम गीता के अवगाहन का सुफल नहीं प्राप्त कर पा रहे हैं तो हमें स्वयं की ओर ही देखना होगा। छिद्रों वाले पात्र में जल नहीं ठहर सकता। इसी तरह से भरे हुए पात्र में हम कुछ भी नहीं डाल सकते। यहाँ पर अर्जुन की शङ्काओं का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण उन्हें प्रतीक बनाकर उनके माध्यम से सारे संसार के लिये मार्ग का अनुदेशन करते दिखायी पड़ते हैं। इस बात को कुछ इस तरह से

स्वयं भगवान श्रीकृष्ण अपनी वाणी से कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां ह्रद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूठानि मायया ।।

(गीता-१८.६१)

तात्पर्य यह है कि शरीररूपी यन्त्र पर सवार सभी प्राणियों को माया के द्वारा इधर से उधर उनके स्वकृत कर्मों के अनुसार घुमाने में प्रवृत्त ईश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है। प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित ईश्वर सबके लिये पृथक् रूप से प्राप्य, पृथक् साधन द्वारा प्राप्य तथा पृथक् परिणाम वाला कहा जा सकता है। हमारे हृदय में स्थित वह परमात्मा मात्र आत्म द्वारा सेवन में शक्य है और हमारी आत्मा करणीय-अकरणीय कर्मों के संस्कार से आबद्ध है। हम विभिन्न तरीकों, क्रियाओं से उन कर्मफलों का छेदन करके आत्मसाक्षात्कार जैसे सुफल को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं और इसी के साथ हमारे द्वारा जन्म-मृत्यु रूपी चिज्जड़ ग्रन्थि की विभक्ति तथा ईश्वरीय अनुभूतियों के सुखद दौर का प्रारम्भ होता है। यहाँ पर भगवान श्रीकृष्ण सभी धर्मों को छोड़ने की बात कहते हैं। सबसे पहले इसी धर्म की विवेचना प्रासङ्गिक एवं समीचीन है।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने धर्म का अर्थ परोपकार माना है और पूरक रूप में दूसरों को पीड़ित करना अधर्म की श्रेणी में भी रखा है। अब प्रश्न उठता है कि 'पर' कौन है? क्या यह हमारे शरीर में ही है? उत्तर बड़ा-ही सटीक है। हमारे आत्मा से इतर सभी कुछ पर है। अर्थात् आत्मा अहं (मैं) है तथा बाकी सारी चीजें (ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, विषय, पञ्चमहाभूत के साथ-साथ अन्तः-चतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार) इदं (यह) है। जब हम इनके लिए सकारात्मक, निश्चयात्मक कार्य-व्यवहार करते हैं, तो यह धर्म की श्रेणी में आता है। जबकि धर्म शब्द अधर्म के साथ चलता है। आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है, जिस तक पहुँचने के लिए धर्म-अधर्म दोनों को छोड़ना होगा। चाहे वह भक्ति से भाव समाधि द्वारा हो या ज्ञान से क्रिया समाधि द्वारा। बाद में ङ्वही सविकल्प से निर्विकल्प बनकर जीव को शिवस्वरूप में अधिष्ठित कराती है।

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः' गीता सभी उपनिषदों का सार है, जो उन उपनिषदों के मन्थन द्वारा भगवान श्रीकृष्ण की वाणी से प्रादुर्भूत हुआ है। जिसे धारण किया जाय वह धर्म है। दूसरे शब्दों में जो धारण करता है, वह धर्म है। लोक में अपने कार्यों से सकारात्मक सन्देश जाने की अपेक्षा में ये चीजें आवश्यक हैं; परन्तु ये हैं बन्धनकारी। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि सभी धर्मों को छोड़कर मेरे शरण में आ जाओ। इसी बात को मानसकार कुछ इस तरह कहते हैं—

सबकै ममता ताग बटोरी ।
मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ।।

समदरसी इच्छा कछु नाहीं ।
हरष सोक भय नहि मन माहीं ।।

गोस्वामी जी मन को आधृत करके भगवान को सभी कुछ समर्पित करने को कहते हैं। यही बात अर्जुन के समक्ष भगवान श्रीकृष्ण भी कहते हैं। शरण में आने का परिणाम श्लोक की दूसरी पङ्क्ति में कहा गया है। भगवान का कथन है कि मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करके मोक्ष प्रदान करूँगा। इसमें कोई संशय नहीं है। अर्थात् बिना पापों का शमन हुए मोक्ष की कामना नहीं की जा सकती। यह भगवान के द्वारा मानवमात्र को एक आश्वासन है कि वे शरणागत की हर तरह से रक्षा करते हैं। इस बात को मानस में भी कहा गया है—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू ।
आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ।।

सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं ।
जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं ।।

अस्तु, भगवान के इस आश्वासन पर पूर्ण विश्वास हमें हमारे श्रेय तक प्रेय की प्राप्ति के साथ अवश्य पहुँचायेगा। यह मानव-कल्याण हेतु सबसे सीधा, सरल तथा सच्चा उपाय है।

गुरु-पूर्णिमा पर्व

सृष्टि दो प्रकार की होती है—दैवी और आसुरी। ईश्वर और धर्म पर विश्वास करने वाले देव होते हैं। उनमें दैवी गुण रहते हैं। अर्थ और काम को प्रधान मानकर चलने वाले लोग जो ईश्वर और धर्म पर विश्वास नहीं करते हैं वे असुर होते हैं। उनमें दम्भ, दर्प, अभिमान आदि आसुरी गुण रहते हैं। सृष्टि में कभी-कभी असुर प्रबल हो जाते हैं, परिणामत: ईश्वर की आज्ञा स्वरूप शास्त्रीय मर्यादा का उलङ्घन होने लगता है। बचे समय में जन-जीवन विशेष अशान्त हो जाता है। अत एव इस स्थिति में धर्मरक्षक परमात्मा धर्म की रक्षा के लिए भूतल पर अवतरित होते हैं। द्वापर में आसुरी प्रवृत्ति वालों से धर्म बाधित हो रहा था। लोग सदाचार विहीन हो रहे थे। उस समय आषाढ़ पूर्णिमा को भगवान विष्णु सत्यवती के गर्भ से पराशर द्वारा प्रकट हुये। इसलिए आषाढ़ पूर्णिमा को गुरु पूर्णिमा कहते हैं। उनका जन्म द्विप में हुआ था। इसलिए वे द्वैपायन कहलाये। शरीर का वर्ण श्याम होने के कारण कृष्णद्वैपायन नाम से प्रसिद्ध हुये। युग के अनुसार बौद्धिक शक्ति का ह्रास होता है। द्वापर में समस्त वैदिक मन्त्रों के अध्ययन की शक्ति नहीं रह गयी थी। अत एव श्रीकृष्णद्वैपायन ने वैदिक मन्त्रों को चार रूपों में विभक्त किया। उससे उनका नाम वेदव्यास हुआ। व्यास का अर्थ है विस्तार। इन्होंने श्रुतियों के तात्पर्य निर्णय के लिये ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन किया।

वेदव्यास जी ने लोगों को वेदाध्ययन में कठिनाई आनेवाली समझकर लक्ष श्लोक से परिपूर्ण महाभारत का निर्माण किया। इसमें समस्त वैदिक विषयों का समावेश किया गया है। अत एव महाभारत पंचम वेद के रूप में माना गया है। श्रीव्यासजी ने लेखक के रूप में गणेशजी का वरण किया। ***'लेखको भारतस्यास्य भवत्वं गणनायक'***। श्रीगणेशजी ने व्यासजी से कहा कि मैं महाभारत लिखने का काम करूँगा, परन्तु मेरी एक शर्त रहेगी कि जब मैं लिखने लगूँ तो मेरी लेखनी रुके नहीं, ***'लिखतो नावतिष्ठेत तदास्यां लेखको ह्यहम्'***। श्रीव्यास ने कहा कि गणेश जी एक शर्त मेरी भी रहेगी वह शर्त यह कि जो श्लोक मैं बोलू आप उसका भाव समझकर ही लिखेंगे।

व्यासोप्युवाच तं देवमबुद्धवा मा लिख क्वचित्।।

श्रीगणेशजी ने उसे स्वीकार कर लिया। श्री व्यास जी कौतुहलवश ग्रन्थ में गाँठ लगाने लगे। श्रीगणेशजी की लेखनी रुके नहीं इसके लिए व्यास जी कभी-कभी ऐसे-ऐसे श्लोक बोल देते जिनका अर्थ बाहर से दूसरा मालूम हो और भीतर से भाव कुछ और रहता था। स्वयं व्यास जी ने कहा है कि मेरे भारत ग्रन्थ में ८८०० (आठ हजार आठ सौ) ऐसे श्लोक हैं जिनका अर्थ मैं समझता हूँ, शुकदेव समझते हैं और संजय समझते हैं या नहीं इसमें सन्देह है। गणेश जी उन श्लोकों पर विचार करते समय क्षण भर के लिए ठहर जाते थे। उस समय व्यास जी कई श्लोकों को तैयार कर लेते थे। आज महाभारत के उन श्लोकों के गूढ़ अर्थों को समझना अत्यन्त कठिन है।

श्रीवेदव्यासजी ने अठारह पुराणों का भी निर्माण किया, जिनमें चार लाख श्लोक है। इन्होंने उन ग्रन्थों में भौगोलिक, ऐतिहासिक विषयों के साथ-साथ ब्रह्म, जीव, माया, कर्म, ज्ञान और भक्ति का स्वरूप समाज के सामने प्राञ्जल (सरल) भाषा में प्रस्तुत किया है। आज जगत् में समस्त विषयों का प्रकाश व्यास के ज्ञान से ही मिलता है। आज कोई

भी व्यक्ति कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया है तो व्यास के वचनों से ही। अगर व्यास जी का प्रादुर्भाव नहीं होता तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जगत् अन्धकारमय बना रहता। जो कुछ तीनों लोकों में देखने-सुनने को और समझने को मिलता है, सब व्यास जी के हृदय में था। व्यास जी के हृदय और वाणी का विकास ही समस्त जगत् का और उसके ज्ञान का प्रकाश और अवलम्बन है। व्यास जी के सदृश महापुरुष जगत् के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। जगत् की संस्कृति ने अबतक भगवान व्यास के समान पुरुष उत्पन्न ही नहीं किया।

व्यास जी सम्पूर्ण संसार के परम गुरु हैं। प्राणियों को परमार्थ का मार्ग दिखाने के लिए ही उनका अवतार हुआ है। उस सर्वज्ञ करुणासागर ने ब्रह्मसूत्र का निर्माण करके तत्त्वज्ञान को व्यवस्थित किया। जितने भी वास्तिक सम्प्रदाय हैं, वे ब्रह्मसूत्र को प्रमाण मानकर उसके आधार पर ही स्थित है।

आषाढ़ पूर्णिमा को वेदव्यास जी का अवतार होने के कारण आध्यात्मिक जगत् में सर्वत्र उस तिथि को उनकी पूजा होती है। जगत् में सभी को गुरु से ही ज्ञान प्राप्त होता है। गुरु के अभाव में कोई भी व्यक्ति ब्रह्म, जीव, माया, कर्म, ज्ञान और भक्ति आदि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अत: गुरु पूर्णिमा को सब लोग अपने-अपने गुरु की पूजा करते हैं। गुरु शब्द में दो अक्षर है गु और रु। गु का अर्थ है अज्ञानरूप अन्धकार और रु का अर्थ है अज्ञान रूप अन्धकार को दूर करने वाला। संसार के नश्वर भोग्य पदार्थों में आसक्ति ही अज्ञान है और उस आसक्ति को हटाकर परमानन्द स्वरूप परमात्मा के चरणों में प्रेम उत्पन्न करा देना ही अज्ञान रूप अन्धकार को हटाना है। अभी तक सच्चे गुरुओं ने अपने शिष्यों को सांसारिक भोग्य वस्तुओं की आसक्ति रूप अज्ञान को हटाकर भगवान के चरण-कमलों में प्रेम उत्पन्न किया है।

गुरु परमात्मा के समान होते हैं, उनमें आठ गुणों की समानता होती है। १. अज्ञान दूर करना। २. पाप का नाश करना। ३. ज्ञान, भक्ति आदि के द्वारा जीव को अपने समान बना लेना। ४. प्राकृत जन्म का नाश कर दिव्य जन्म प्रदान करना। ५. दिव्य दृष्टि देना। ६. जीवों पर सफल कृपा करना। ७. जीवों का भोग्य होना और ८. जीवों एवं शिष्यों का स्वामी (शेषी) रहना।

इन आठों कार्यों में परमात्मा और गुरु समान होते हैं।

परम ब्रह्म परमेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने शरणागत अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी तथा उसके अज्ञान और पाप का नाश किया, जिसे स्वयं अर्जुन ने स्वीकार किया है ''नष्टोमोह:'' कहकर। भगवान श्रीराम ने गीधराज जटायु को नारायण के समान चतुर्भुज रूप में चक्रादि आयुधों से अलङ्कृत कर वैकुण्ठ भेज दिया उससे जटायु का प्राकृत जन्म सदा के नष्ट हो गया।

सन्त गोकर्णजी ने श्रीमद्भागवत कथा के माध्यम से शरणागत धुन्धुकारी का अज्ञान एवं पाप का नाशकर वैकुण्ठ भेज दिया। उस धुन्धुकारी को भी दिव्य जन्म से सदा के लिए प्राकृत जन्म नष्ट हो गया। अत: भगवान और गुरु ये दोनों जीवों का उद्धार करते हैं। इसलिए कल्याण चाहने वाले भक्तों को भगवान और गुरु दोनों के चरणों में प्रेम करना चाहिये। जब-जब पूर्णिमा आती हैं, तब-तब आस्तिक समाज में अपने गुरुजनों के प्रति पूजन का शुद्ध भाव जागृत होता है। गुरु पूर्णिमा हमें अध्यात्मज्ञान की परम्परा एवम् उसकी गरिमा का स्मरण कराती है।

पवित्रता की आवश्यकता

पवित्रता, शुचिता का मानव जीवन में बहुत महत्त्व है। आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की पवित्रता मनुष्य के लिए आवश्यक है। मनु ने अपने आचार लक्षण में शौच का नाम गिनाया है। बाह्य शुद्धता से मनुष्य में पवित्रता की भावना प्रबल होती है और विचारों की पवित्रता तो आचार का प्राण ही है।

वेद में उपदेश है कि हे मनुष्यो! तू वेदवाणी के पति ईश्वर को जानने के लिए पवित्र बन, बलवान पुरुष के बाहुओं के समान बाहर और अन्दर के व्यवहार को सिद्ध करने के लिए सूर्य किरणों से पवित्र पदार्थ के समान पवित्र विद्वान् होकर जिन विद्वानों का सेवक है, उन विद्वानों की सङ्गति प्राप्त करने के लिए पवित्र बनों।

अभिप्राय यह है कि मूर्ख व्यक्ति कभी शुभ परामर्श नहीं दे सकता। अत: विद्वानों का सङ्ग करना चाहिए। विद्वानों के श्रेष्ठ विद्वतापूर्ण विचार एवम् उनका उदात्त गुण मानव-हृदय में क्रान्ति लाता है, जिनके फलस्वरूप साधारण मनुष्य अपने अन्तस्तल के हीन और निम्न कोटि के विचारों को त्याग कर उत्तम शुद्ध विचारों को अपनाता है और सदाचारी गुणों को धारण कर अपना और दूसरों का भी कल्याण करता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र से यह स्पष्ट भी है कि ''विद्या मनुष्य को पवित्र करती है''।

वैदिक मानव पवित्रता के विषय को अच्छी तरह जानते थे इसीलिए उनकी प्रार्थना और घोषणा थी—हे पवित्रजनों के पालक परमात्मा; आप वेद-विद्या के स्वामी एवं पोषक हैं, सम्पूर्ण दिव्य जगत् के उत्पादक हैं अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करने वाले हैं, इसलिए आप शुद्धिकारक नष्ट न होने वाले सूर्यमण्डल के समान विज्ञान के प्रकाश से मुझे विद्वान् बनाकर पवित्र करें। एक अन्य मन्त्र में प्रार्थना है कि देवजन मुझे पवित्र करें, बुद्धियाँ मन के साथ मुझे पवित्र करें, समस्त प्राणी पवित्र करें और हे जातवेदम् अग्नि! मुझे पवित्र करें। सच्चरित्र के लिए बुद्धि के साथ-साथ मन की पवित्रता आवश्यक है। यदि मन पवित्र न हुआ तो अच्छा ज्ञान होने पर भी वह रावण जैसा ही कार्य करेगा। समस्त प्राणियों से पवित्र होने का भाव यह है कि जिस-जिस प्राणी में जो-जो गुण हैं मैं केवल उसे ग्रहण करूँ, उसके दुर्गुण को छोड़ दूँ।

मानव ज्ञान की पवित्रता, बल की पवित्रता और जीवन की पवित्रता से ही पूर्णरूपेण शुचिता की भावना प्राप्त कर सकता है। ज्ञान की पवित्रता से मनुष्य सदाचारी होता है, अपना तथा दूसरों का कारण सोचने की सामर्थ्य रखता है, बल की पवित्रता से वह अपना बल दुर्बल मनुष्यों के हित में लगाता है तथा दुष्ट बलशालियों के बल को चूर्ण करने में समर्थ होता है और जीवन की पवित्रता से वह संसार के सामने आदर्श रूप में उपस्थित होता है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में कुछ इसी प्रकार की शिक्षा दी गई है—हे शिष्य! विविध शिक्षाओं से मैं तेरे भाषण की साधनभूत वाणी को निर्मल करता हूँ, तेरे जीवन के हेतु प्राण को निर्मल करता हूँ, तेरे दर्शन के साधन नेत्र को निर्मल करता हूँ। तेरे सुनने के साधन श्रोत्र को निर्मल करता हूँ, तेरे बन्धन रूप नाभि को निर्मल करता हूँ, उपस्थेन्द्रिय को निर्मल करता हूँ, पाप इन्द्रिय को निर्मल करता हूँ, तेरे सभी व्यवहारों को निर्मल करता हूँ आदि।

इन्द्रियों की निर्मलता के द्वारा वेद का यही सन्देश है कि मानव जीवन का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक क्रिया निर्मलता की परिधि में व्यतीत होना चाहिए।

पवित्र होकर निर्मल जीवन से मनुष्य सौ वर्ष

की पूर्णायु व्यतीत करे, तो स्वयं अपने लिये वह लोक और परलोक को तो सुधारता ही है दूसरों के लिए भी कल्याणकारी सिद्ध होता है। वेद के एक मन्त्र में वह पितरों पूर्वजों से पवित्रता प्राप्ति की प्रार्थना करता है जिससे वह पूर्ण अर्थात् सौ वर्षों की आयु प्राप्त कर सके। ये पूर्वज जीवित भी हो सकते हैं और मृत भी। प्रत्येक स्थिति में उनके पवित्र कार्यों का अनुसरण करके हम भी अपने को पवित्र कर सकते हैं।

जिस मानव का विचार निर्मल एवं आचरण पवित्र होगा उसका प्रत्येक दृष्टिकोण पावन होगा। उसे जीवन के प्रत्येक पहलू में पावनता का ही विस्तार दिखाई देगा। एक मन्त्र में सविता से वह कामना करता है—'अपने पवित्रकारी प्रकाश और शक्ति के उत्पादन द्वारा हे सविता अथवा सर्वप्रेरक परमेश्वर आप हमें दर्शनार्थ पवित्र करें'।

इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि आर्य मानव का देव पवित्र करने वाला था और इसलिए कल्याकारी भी था। तभी तो वह कहता था पवित्र करने वाले आप देव हमारे लिए मङ्गलकारी होंवे।

●

ज्ञानयज्ञ

मानव को कदाचार से सदाचार की ओर, असत्य से सत्य की ओर, हिंसा से अहिंसा की ओर और अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रवृत्त कराना ज्ञानयज्ञ का उद्देश्य है। कदाचार, असत्य, हिंसा आदि गलत कार्य की ओर प्रवृत्त कराने में अज्ञान ही कारण है।

धर्म को अधर्म समझना, अधर्म को धर्म समझना, कर्त्तव्य कर्म को अकर्त्तव्य समझना और अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझना, अच्छी वस्तु को दूषित समझना और दूषित वस्तु को अच्छी वस्तु समझना शरीर ही को जीव समझना, अपने को स्वतन्त्र मानना, सर्वेश्वर परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास न करना तथा जगत् को परमात्मा के शरीर रूप में न देखना आदि अज्ञान हैं।

अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।

सबों में ज्ञान और अज्ञान दोनों रहते हैं, जिनमें अज्ञान की मात्रा अधिक होती है उनका ज्ञान अज्ञान से आच्छादित हो जाता है। उस अज्ञान से होने वाले कदाचार, असत्य और हिंसा आदि कुत्सित कर्मों में मानव संलग्न हो जाता है। वर्तमान समय में विभिन्न प्रकार के कुत्सित कर्म करने वाले लोगों की अधिक संख्या हो गयी है। फलतः सर्वत्र अशान्ति फैली हुई है। धन, प्रतिष्ठा, जीवन आदि सब खतरे में हैं। राजकीय शक्तियाँ उन्हें दबाने में असमर्थ हो गयी हैं। ज्ञान से जो काम हो जाता है, वह शासन से नहीं होता। ऐसे समय में जन-जन में मानवोचित कर्त्तव्यों का ज्ञान कराना आवश्यक है। मानव जब ज्ञान ज्योति के आलोक में आता है, तब उसे दूषित कर्म से भय हो जाता है और वह सदाचार पथ का सच्चा पथिक बन जाता है। इसलिए श्रीमद्भागवत माहात्म्य में कहा गया है—

सत्कर्म सूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृतोबुधैः ।

अर्थात् विद्वानों ने उस ज्ञान को ज्ञानयज्ञ कहा है कि जिस यज्ञ में मानवोचित कर्त्तव्यों की सही शिक्षा प्राप्त हो सके। श्रीनारद जी ने मानवों में ज्ञान के विकास के लिए श्रीमद्भागवत शास्त्र से ज्ञानयज्ञ किया था। उस सयम अज्ञान से आच्छादित ज्ञानपूर्ण विकसित हो गया था।

श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में भगवान ने १५ प्रकार के कर्मों को यज्ञ शब्द से ही प्रतिपादित किया है। जिनमें द्रव्यांश प्रधान यज्ञ और ज्ञानांश प्रधान यज्ञ का स्वरूप बतलाया गया। उनमें द्रव्यांश प्रधान यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानांश प्रधान यज्ञ को श्रेष्ठ कहा है; क्योंकि सभी सत्कर्मों की पूर्णता ज्ञान में हो जाती है। अनादि काल से सञ्चित ज्ञान विरोधी कर्मों के कारण मानव दिग्भ्रान्त बना रहता है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर मानव के कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

ज्ञान को हम चार भाग में विभक्त कर करते हैं–प्रथम विषय भोग सम्बन्धी ज्ञान जो प्राणिमात्र में रहता है। भोजन, शयन, सन्तानोत्पादन आदि विषय का ज्ञान सबों में रहते हैं, इसीलिए भोजन, शयन, सन्तानोत्पादन आदि के लिए शास्त्र में विधि नहीं है; क्योंकि जो स्वाभाविक होता है उसके लिए विधि की आवश्यकता नहीं होती है बिना उपदेश के ही भोजन, शयन आदि में जीव प्रवृत्त हो जाता है। मानव शास्त्राधिकारी प्राणी है। उसके लिए भोजन, शयन एवं सन्तानोत्पादन के लिए विधि नहीं; किन्तु नियम बतलाये गये हैं।

सात्विक शुद्ध, परिमित सामयिक तथा शुद्ध स्थान पर बैठकर भोजन करे। परिमित और सामयिक नींद ले। इसी तरह सन्तानोत्पादन के लिए भी समय का विचार है। असामयिक गर्भाधान से हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु जैसे पुत्र होते हैं।

चिकित्सा, ज्योतिष, शिल्प, कला आदि का ज्ञान द्वितीय प्रकार का ज्ञान है। जो विषय-भोग ज्ञान की अपेक्षा उत्तम है। यह ज्ञान सबों में नहीं होता है।

तृतीय प्रकार का ज्ञान जीव स्वरूप का ज्ञान है। जैसे परा प्रकृति शब्द से गीता में कहा गया है। अपरा प्रकृति, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार है। उसी से ग्यारह इन्द्रियाँ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच विषय होते हैं। सभी प्राणियों के शरीर प्राकृत ही होते हैं। सब प्रकार के शरीरों को सञ्चालित करने वाला जीव ही होता है। जब तक शरीर में जीव का अस्तित्व रहता है तब तक शरीर सक्रिय रहता है। उसे निकल जाने पर शरीर नष्ट हो जाता है। शरीर को व्यवस्थित रखने वाला जीव का स्वरूपज्ञान आवश्यक है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में जीव स्वरूप का सविस्तर उपदेश किया है जीव शरीरादि से भिन्न ज्ञानाकार, नित्य, अणु ईश्वर का दास एवं स्वयं प्रकाशमान् है। जब जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब आत्मा में स्थित ज्ञान विरोधी अनादि काल के सञ्चित मल ज्ञानरूप अग्नि से वैसे ही जलकर भस्म हो जाते हैं जैसे प्रज्वलित अग्नि से लकड़ियाँ जलकर भस्म हो जाती है। जीव का यथार्थ स्वरूप ज्ञान बिना कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती और शान्ति के बिना सुख नहीं हो सकता।

अशान्तस्य कुतः सुखम्।

उपनिषदों में प्रजापति ने कहा है कि जीवात्मा के स्वरूप ज्ञान होने पर परमात्मा के चरणों में भक्ति बनती है। इसलिए जीव स्वरूप का ज्ञान भक्ति का अङ्ग है। जीव स्वरूप ज्ञानहीन व्यक्ति अहङ्कार वश गलत बोलता और गलत करता है।

एक बार राजा रहूगण पालकी पर चढ़कर जङ्गल के मार्ग से जा रहे थे, पालकी में चार कहार लगे हुए थे, उनमें से एक कहार किसी कारणवश पालकी ढोने में असमर्थ हो गया। कहार की खोज होने लगी, जड़भरत भी उसी जङ्गल में भगवद् भजन कर रहे थे। संयोग से खोजने वालों की दृष्टि जड़भरत पर पड़ गई। पालकी ढोने के योग्य समझकर उन्हें भी पालकी में लगा दिया। जड़भरत जी दूसरे कहारों के साथ चाल मिलाकर चलना नहीं जानते थे। चलते समय कोई जीव पैर से दब न जाये इस भय

से चींटी आदि जीवों को बचाकर पैर रखते थे। इसलिए पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगती थी। उससे राजा रहूगण को कष्ट होता था। राजा ने कहारों को डाँटकर कहा कि जरा सावधान होकर चलो। कहारों ने कहा कि हमलोग ठीक से पालकी ले चल रहे हैं। जड़भरत जी के सम्बन्ध में बताया की यही अपने चाल बिगाड़ देते हैं। राजा ने जड़भरत को डाँटकर कहा कि क्या तू जीता ही मर गया है। तुम मेरा निरादर कर रहा है मालूम होता है कि तुम प्रमादी है। जड़भरत ने उत्तर दिया कि तुम राजा हो और मैं प्रजा हूँ, इस प्रकार के भेद बुद्धि व्यवहार मात्र के लिए है। परमार्थ दृष्टि से विचार करने पर जीव का सेवक या स्वामी नहीं होता। यह तो भगवान वासुदेव का सेवक है और भगवान वासुदेव जीव के स्वामी हैं यह भाव जीव में तभी आता है जब जीव पवित्र कीर्ति श्रीहरि का गुणगान करता रहता है।

इस प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि जड़भरत में आत्म-स्वरूप का ज्ञान था। इसलिए अहङ्कारी रहूगण के वचन का उत्तर आत्मस्वरूप ज्ञानपूर्वक दिया। राजा रहूगण आत्मज्ञान विहीन थे। अत: जड़भरत को गलत रूप से डाँट रहे थे।

सर्वेश्वर परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान सर्वोत्तम ज्ञान है। परमात्मा जगत् का उत्पादक पालक संहारक तथा मोक्ष प्रदाता हैं। वे जड़ और चेतन से विलक्षण, समस्त दोषों से रहित और कल्याण गुणों से परिपूर्ण हैं। उनकी विभूतियाँ अनन्त हैं। वे सर्वव्यापक होते हुए संसार के कल्याणार्थ अनेक रूप धारण करते हैं। जटायु, केवट तथा शबरी का उद्धार करने वाले श्रीराम गीता गङ्गा की निर्मल धारा प्रवाहित करने वाले श्रीकृष्ण भी साक्षात् ब्रह्म ही थे। उनकी कृपा से यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानयज्ञ में सनातन संस्कृति, सभ्यता, सदाचार, जीवस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप ब्रह्म प्राप्ति के साधन भक्ति और प्रपत्ति आदि पर प्रसिद्ध सन्तों एवं विशिष्ट विद्वानों का दिव्य एवं सारगर्भित उपदेश होता है। राष्ट्रिय एकता तथा समस्त मानवों में पारस्परिक सद्भावना का मूल मन्त्र भी ज्ञानयज्ञ में बतलाया जाता है। महत्त्वपूर्ण विषयों पर विशिष्ट विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ भी होता है। प्रत्येक यज्ञ में हवन की आवश्यकता होती है, अत: ज्ञानयज्ञ में भी यज्ञशाला बनता है। उसमें हवन, वैदिकपाठ तथा जप आदि कृत्य सम्पादित होते हैं। उपस्थित भक्तों के लिए यथा सम्भव भोजनादि की व्यवस्था भी रहती है।

●

श्रीवेङ्कटेश्वर की भक्ति से मोक्ष

भगवान वेङ्कटेश्वर की भक्ति आठ प्रकार की मानी गयी है—(१) भगवान के भक्तों के प्रति स्नेह, (२) भगवद्भक्तों की पूजा करके उन्हें सन्तुष्ट करना, (३) स्वयं भक्तिपूर्वक भगवान की पूजा करना, (४) अपने शरीर की समस्त चेष्टाएँ भगवान के लिए ही करना, (५) भगवान के माहात्म्य की कथा में रुचि रखना और इसे सुनने में आदर का भाव होना, (६) अपने नेत्र और शरीर में भगवद्भक्ति एवं भगवत्प्रेम जनित विचार का स्फुरण होना, (७) भगवान श्रीनिवास का निरन्तर स्मरण करना तथा (८) वेङ्कटाचल निवासी भगवान श्रीनिवास की शरण लेकर ही जीवन धारण करना। ऐसी आठ प्रकार की भक्ति यदि किसी म्लेच्छ में भी हो तो वह निश्चय ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

●

श्रीराम के द्वारा उपदिष्ट वैराग्य

योगबासिष्ठ वैराग्य प्रकरण के अनुसार भगवान श्रीराम ने धन, चित्त, शरीर, काल आदि सबकी निस्सारता का अलग-अलग वर्णन किया है।

धन—हे मुने ! मूढ़जन समझते हैं कि धन-सम्पत्ति यदि चिरस्थायी हो जाय तो सुख-ही-सुख है। वास्तव में न वह स्थिर रह सकती है और न उत्कृष्ट ही कहलाने योग्य है, क्योंकि वह सबको व्यामोह में डालती है। धन-सम्पत्ति ने बड़े-बड़े विद्वान, शूरवीर, कृतज्ञ, सुन्दर और कोमल स्वभाव वाले पुरुषों को भी कलंकित कर दिया है। जो धन-सम्पत्ति से युक्त होकर भी जनता की निन्दा का पात्रं न हो, शूरवीर होकर भी अपने ही मुँह से अपनी बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा न करता हो तथा स्वामी होकर भी सेवकों अथवा प्रजाजनों पर समान दृष्टि रखता हो-ये तीन तरह के पुरुष संसार में दुर्लभ हैं। धन सम्पत्ति पानी की लहर और दीपक की लौ के समान चंचल एवं मनोरम होने के कारण चितवृत्ति को अपनी ओर खींच लेती है। यह प्राय: अनर्थकारी कर्मों से प्राप्त होती है तथा प्राप्त होकर भी शीघ्र नष्ट हो जाने वाली है।

आयु—जीव की आयु पत्ते के सिरे पर लटकते हुए जलबिन्दु के समान अस्थिर है। ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मचारी) महापुरुषों के लिये सुखदायिनी है और विषयों में रत पुरुषों के लिये क्लेश देने वाली है। वही जीवन उत्तम जीवन कहलाता है, जिससे 'अवश्य पाने योग्य वस्तु' अर्थात् परमात्मज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे फिर शोक में नहीं पड़ना पड़ता। जो इस अपवित्र देह को ही आत्मा माने बैठे हैं, उनके लिये आयु भारस्वरूप है, क्योंकि रोगरूपी भीषण सर्प उनकी आयु का पान करते रहते हैं और मृत्यु अपना ग्रास बनाने के लिये सदा ताक में बैठी रहती है।

अहंकार—हे मुनिश्रेष्ठ! अहंकार के वशीभूत होकर विषयलम्पट लोग दुश्चेष्टाएँ करते हैं। वे शारीरिक कष्ट, मानसिक व्यथाएँ, अशान्ति, पुण्यक्षय तथा चारित्र्य-पतन-रूपी अनेक आपत्तियों को पाते हैं। मैं अहंकार के अधीन न होऊँ।

चित्त—यह चंचल चित्त सदैव दुर्वासनाओं एवं क्षोभ में जकड़ा हुआ और नये-नये विषयों की खोज में भाँति-भाँति के मनसूबे बाँधता हुआ सदा अतृप्त रहता है। इस चित्तरूपी रोग की यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये, जिससे शम, दम, क्षमा, दया, समता, शान्ति, सन्तोष और सरलता आदि सद्गुणों की आशा बने।

तृष्णा—धन आदि की प्राप्ति के लिये 'तृष्णा' कष्टप्रद उत्साह को बढ़ावा देती रहती है, जिससे हम लोग अपने परमार्थिक स्वरूप को प्राप्त करने में असमर्थ होकर मोह में डूबे रहते हैं। तृष्णा सदा विक्षुब्ध बनी रहती है। विषयादि चिन्तन का त्याग ही इसके निवारण का मन्त्र है। श्रेष्ठतम मनुष्य को भी यह सहज तृष्णा पलभर में याचक बनाकर तृणवत् कर देती है।

शरीर—भगवान श्रीराम जी कहते हैं—हे महामुनि! यह शरीर मल-मूत्र और नानाविध नस-नाड़ियों से बना अहङ्कारूपी गृहस्थ का विशाल गृह है, जो मृत्यु के समय जीव का साथ छोड़ देता है। मैं न तो इस शरीर का कोई सम्बन्धी हूँ और न शरीर हूँ, न यह मेरा है ऐसा विचारवान पुरुष उत्तम है। शरीर पतनशील है। इसमें नित्यत्व का विश्वास रखने से ही सुबुद्धि ठगी जाती है। मेरा क्षणभर के लिये भी शरीर में विश्वास नहीं है।

बाल्यावस्था—यह बाल्यावस्था भय का, परवशता का, दीनता का, मनोरथों का, संकटों के निवारण में असमर्थता का, देखी-अनदेखी वस्तुओं

की लालसा का तथा मूकता एवं मूढ़ बुद्धित्व आदि दोषों का विलास-भवन है। बाल्यावस्था किसी के लिये भी पूर्ण सन्तोषदायक नहीं है।

युवावस्था—भोग भोगने के उत्साह से अथवा कामरूप पिशाच से दूषित चित्त होकर नरक में गिरने के लिये ही मनुष्य यौवनारूढ होता है। विषयचिन्तन और दुर्गुण दुराचाररूप अनेक दोषों से भरे हुए इस निन्दनीय यौवन के पार जाना बहुत ही कठिन है। विनय से अलंकृत, श्रेष्ठपुरुषों को आश्रय देने वाला, करुणा से प्रकाशित तथा शम, दम, क्षमा, दया आदि विविध गुणों से युक्त उत्तम यौवन इस संसार में उसी तरह दुर्लभ है, जैसे आकाश में वन।

स्त्री-शरीर—कामरूपी बहेलिये ने मूढ़चित्त मानवरूपी पक्षि को फँसाने के लिये ही स्त्रीरूपी जाल को फैला रखा है। नारी के स्तन, नेत्र, नितम्ब अथवा भौंह में सार वस्तु के नाम पर केवल मांस है। वह भी कुछ ही दिनों में जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। हे संसार के मनुष्यों! क्यों भ्रम के पीछे दौड़ रहे हो।

वृद्धावस्था—जरावस्था आने पर परलोक का भय सताने लगता है, फिर भी तृष्णा बढ़ती ही जाती है। कभी दाँत हैं तो आँत नहीं और कभी आँत है तो दाँत नहीं। दोनों भी नहीं हो तब भी, भोग की इच्छा प्रबल हो उठती है। उपभोग की असमर्थता में हृदय जलता रहता है। सब ओर से उपहास का पात्र हुआ जर्जर शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है। समस्त एषणाओं का तिरस्कार हो जाता है। वृद्धावस्था बहुत दु:खरूप होती है।

काल के स्वरूप का विवेचन—युग, वर्ष और कल्प के रूप में काल ही प्रकट होता है। तिनका, धूल, इन्द्र, सुमेरु, पत्ता और समुद्र-सब को यह अपने अधीनकर निगल जाने के लिये उद्यत रहता है। व्यावहारिक अवस्था में संसार का कर्ता, भोक्ता, संहारक और स्मरणकर्ता आदि सभी पदों पर काल ही प्रतिबम्वित होता है। विस्तृत जगन्मण्डल काल की नृत्यशाला है। काल ही बारम्बार चौदह भुवन, सप्तवन, लोक-लोकान्तर, जीव-समुदाय तथा उनके नाना प्रकार के आचार-विचारों की सृष्टि करते कभी थकता नहीं।

मानव जीवन की अनित्यता—श्रीराम जी कहते हैं-प्रारब्ध द्वारा निर्मित सुख-दु:ख, हर्ष क्लेश आदि से मोहित हुए हम लोग बिके हुए दासों तथा पशुओं की भाँति क्रूर काल के पराधीन हो रहे हैं। प्राणियों की आयु अत्यन्त अस्थिर है। मृत्यु निर्दय है। जवानी चंचल होती है और बाल्यावस्था मोह में ही बीत जाती है। धैर्य शिथिल हो गया है, पाप की बारम्बार स्फुरणा होती है। सत्संग दुर्लभ हो गया है। व्यर्थ ही अनेक संकल्प विकल्पों का जाल रचते हुए सबलोग एक दिन काल के गाल में चले जाते हैं।

जागतिक पदार्थों की परिवर्तनशीलता का वर्णन—यह संसार प्रतिदिन नष्ट होता है। प्रतिदिन पुन: उत्पन्न होता है। स्थावर-जंगमरूप दृश्य जगत् मेले के समान अस्थिर है। सब प्रकार की शोभाएँ (चमक-दमक) धूमिल होकर समाप्त होती जाती हैं। मनुष्य शरीर, वनस्पति तथा अन्य शरीरधारी सब एकरूप कहाँ रहते हैं। काल स्थितियों में परिवर्तित करने में अत्यन्त कुशल है। प्राय: सब लोगों को आपत्ति में धकेलकर यह काल क्रीडा करता रहता है।

सांसारिक वस्तुओं की नि:सारता—मुनीश्वर! इस जगत् में कोई ऐसा पदार्थ मेरी दृष्टि में नहीं आता, जिसके प्राप्त होने से चित्त को परम-सुख मिल सके। हमारा मन सांसारिक कामनाओं पर भटकता है। इसी में आयु नष्ट हो रही है। युद्धस्थल में बल-विक्रम दिखलाने वाले मेरी दृष्टि में शूरवीर नहीं हैं। मैं तो उन्हीं को शूरवीर..**(शेष २७ पर)**

राष्ट्रहित की भावना

विश्व में सारे राष्ट्र के लोग अपने-अपने राष्ट्र को सम्पन्न बनाने में लगे हुए हैं। केवल आर्थिक सम्पन्नता से ही राष्ट्र की सम्पन्नता समझ रहे हैं। किन्तु यह भूल है। वस्तुत: वैचारिक सम्पन्नता से राष्ट्र में सम्पन्नता आती है। जीवन में सुख शान्ति का अनुभव जिससे हो, उसे ही सम्पन्न जीवन कहते हैं। ऐसा जीवन जिस राष्ट्र के लोगों का बीतता है, वह राष्ट्र सम्पन्न कहने योग्य है। वर्तमान समय में आर्थिक सम्पन्नता के सामने सुख-शान्ति की सम्पन्नता को भूलते जा रहे हैं। राष्ट्र में आर्थिक आय की दृष्टि से शराब, सिनेमा और टीवी पर चरित्रहीनता उत्पादक चीज और नृत्य का प्रदर्शन बढ़ाया जा रहा है। अन्धों के बहुमत से रूप निर्णय के समान ही आज राष्ट्र के अधिकांश काम हो रहे हैं। यह ध्यान नहीं है कि हिंसा, नारीअपहरण, डकैती आदि दुष्कर्म कराने में शराब का विशेष सहयोग है। सिनेमा और टीवी पर काम बर्द्धक नृत्य-गीत आदि से चरित्रहीनता बढ़ रही है। ये सब चीजें छात्र-छात्राओं के जीवन के लिए घातक है। आज बुद्धिजीवियों की बुद्धि भी इससे कुण्ठित हो रही है। लोगों के वचन से राष्ट्रहीत की भावना प्रकट होती है, परन्तु कार्य राष्ट्र के विपरीत हो रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति में तेरहवीं शताब्दी के सच्चे श्रीवैष्णव सन्त श्रीलोकाचार्य जी महाराज का वचन राष्ट्र में सुख-शान्ति के लिए परम औषध है। उन्होंने ''श्रीवचनभूषण'' ग्रन्थ में कहा है की सुख, सुयश, जनहित और जीवन का विकास चाहने वाले को निषिद्ध चार प्रकार के कर्मो से अवश्य बचना चाहिए।

अकृत्यकरण, भगवदपचार, भागवतापचार और असह्यापचार ये चार कर्म निषिद्ध हैं।

(१) ***अकृत्यकरण*** का अर्थ है, नहीं करने योग्यकर्म करना। जैसे—मन, वचन और शरीर से दूसरे जीव को कष्ट देना, दूसरे की स्त्री को कुदृष्टि से देखना, असत्य बोलना, नहीं खाने योग्य मद्य, मांस, मत्स्य, लहशुन, प्याज आदि खाना, जुआ खेलना, चरित्र नाशक गीत-नृत्य आदि सुनना तथा देखना।

(२) ***भगवदपचार*** का अर्थ है भगवान के प्रति अपराध करना, भगवान के प्रति पाँच प्रकार के अपराध विशेष हानिकर हैं। पाँच प्रकार के अपराध ये हैं—

१. भगवान नारायण को इन्द्र आदि देवों के समान समझना।
२. मनुष्यावतार में स्थित भगवान श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि को मनुष्य समझना।
३. अपने वर्ण और आश्रम धर्म के विपरीत आचरण करना।
४. धातु, पत्थर, काष्ठ आदि से निर्मित भगवान की अर्चा मूर्ति को पत्थर आदि के रूप में समझना। क्योंकि मूर्ति जब वैदिक विधि से स्थापित हो जाती है, तब उसमें देवत्व आ जाने के कारण, साक्षात् नारायण का दिव्य स्वरूप हो जाता है। अत: उनके दर्शन के समय मूर्ति को परमात्मा का दिव्य स्वरूप समझना चाहिए।
५. पंचम अपराध है भगवान की चीजों को चुरा लेना। भगवत्सम्बन्धी समर्पित मन्दिर, भूमि, वस्त्र, भूषण आदि द्रव्यों का अपहरण करना भगवदपचार माना गया है।

(३) ***भागवतापचार*** का अर्थ है भागवतों के प्रति अपराधकरना। भगवान के चरणों में निर्मल प्रेम रखते हुए प्राणिमात्र के प्रति दया तथा जनहित

की भावना रखने वालों को भागवत कहते हैं। भागवत अर्थपञ्चक के ज्ञाता तथा पञ्चसंस्कार से संस्कृत होते हैं। जो व्यक्ति अहंकार वश किसी भागवत को कष्ट देता है, उसे महान विपत्ति का सामना करना पड़ता है। दुर्वासा ने भागवत अम्बरीष के प्रति अपराध किया था। जिसका फल उन्हें महान् कष्ट के रूप में मिला। सूजजी भागवत थे। उनके प्रति अपराध करने वाले श्रीबलदेवजी को एक वर्ष तक सभी तीर्थों में भ्रमण करना पड़ा था। आत्मकल्याण चाहने वालों तथा जनहित की भावना रखने वालों को किसी भी भागवत के प्रति अपराध नहीं करना चाहिए।

जो अपराध सहन करने योग्य न हो उसे असह्यापचार कहते हैं। निष्कारण भगवान तथा भागवत की निन्दा करना असह्यापचार है। आचार्य और उनके आश्रितों के प्रति भी अपराध करना असह्यापचार ही माना गया है। शिशुपाल भगवान श्रीकृष्ण की निन्दा करता था। जो श्रीकृष्ण के लिए असह्य था। अत: भगवान श्रीकृष्ण ने शिशुपाल का वध किया। प्रहलाद भागवत थे। हिरण्यकशिपु उनकी निन्दा करता तथा मरवाने के प्रयास करता था। हिरण्यकशिपु का वह अपराध भगवान के लिए असह्य हुआ। इसीलिए भगवान ने नृसिंह रूप धारणकर हिरण्यकशिपु का वध किया। आचार्य तथा उनके आश्रित भक्तों के निन्दा करने के कारण राजा वेणु का वध हुआ था। इस तरह अकृत्यकरण, भगवदपचार, भागवतापचार तथा असह्यापचार से मानव को सदा बचना आवश्यक है।

जिस राष्ट्र में इन चारों प्रकार के अपराधों से मानव वञ्चित रहते हैं, उस राष्ट्र के लोग संसार में सुख-शान्ति पूर्वक जीवन यापन कर अन्त में परलोक का सुख प्राप्त करते हैं। उस राष्ट्र के लोगों को सन्तोष रूपी नन्दन वन में वास के समान आनन्द मिलता है।

●

योग से ब्रह्म दर्शन

प्राकृत वासना रूप मल के कारण आत्मा का यथार्थ स्वरूप आच्छादित रहता है। जब योग साधना से आत्मा का मल नष्ट हो जाता है, तब भोगी अपरिमित सुख स्वरूप आत्मा का अनुभव करता है। फलस्वरूप उसे अन्य वस्तुओं का भोग प्रिय नहीं लगता है।

जब योगी योग साधन में सफल हो जाता है, तब वह शरीर की विषमता को भूलकर आत्मा की समानता में स्थित हो जाता है। उसकी दृष्टि आत्म दर्शन में लग जाती है। वैसे योगी की चार अवस्थायें होती हैं—

(१) जगत् में जितने शरीरधारी जीव हैं, उनका शरीर प्राकृत है। पञ्चभूतों से निर्मित सभी प्राणियों के शरीर में विषमता रहती है; परन्तु सब प्रकार के शरीरों में रहने वाले जीवात्माओं के आकार में विषमता नहीं है। सब जीवात्मायें एक ही आकार के हैं। वे ज्ञानस्वरूप हैं, अत: उनका एक ज्ञान ही आकार है। भगवान ने यहाँ दो बातें कही हैं। सब भूतों में अपनी आत्मा को देखे और अपनी आत्मा में सभी भूतों को देखे। इसका भाव है कि जब समस्त जीवात्मा ज्ञानाकार हैं, तब योगी सब भूतों में स्थित आत्माओं में अपनी आत्मा के ज्ञानाकारत्व को देखता है और अपनी आत्मा में सब आत्माओं में रहने वाले ज्ञानाकारत्व को देखता है।

जैसे एक ही आकार की एक सौ पुस्तकें हैं। उनमें एक पुस्तक का जो आकार है वही आकार अन्य पुस्तकों

का भी है। ऐसी स्थिति में एक पुस्तक में सब पुस्तकों का आकार देखा जाता है। उसी प्रकार जब सब आत्माओं का आकार एक ही समान है, तब एक आत्मा के आकार को सबमें और सब आत्मा के आकार को एक में देखना स्वाभाविक सिद्ध हो जाता है। ***'सर्वत्र समदर्शनः'*** भगवान के इस वाक्य से एक जीवात्मा को देख लेने पर सब जीवात्मा उसी के समान होने के कारण सम्पूर्ण प्राणिगत जीवात्मा देख लिये जाते हैं यह स्पष्ट हो जाता है।

(२) जब जीव अपनी साधना के द्वारा समस्त पुण्य-पाप रूप दोषों से रहित हो जाता है, तब वह ब्रह्म के समान बन जाता है। उसके पूर्व में प्रकृति संसर्ग से दबा हुआ जो ज्ञान था वह विकसित हो जाता है। अत एव समस्त आत्मतत्व को समान रूप से देखता है। जीव का स्वरूप जैसा नित्य और ज्ञानाकार है वैसा ही ब्रह्म का स्वरूप भी नित्य एवं ज्ञानाकार है। इसलिए जीवों में ब्रह्म का साम्य और ब्रह्म (भगवान श्रीकृष्ण) में जीवात्माओं का साम्य योगी की दृष्टि में दीख पड़ता है। इसी दृष्टि से भगवान ने कहा है कि जो योगी सबों में मुझे देखता है और मुझमें सबों को देखता है, उसकी दृष्टि से मैं ओझल नहीं होता हूँ; क्योंकि मेरे साथ उसकी समानता है। मेरे साथ समानता होने के कारण जो अपनी आत्मा को मेरे समान देखता है वह भी मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता अर्थात् मेरी कृपादृष्टि उस पर सदा बनी रहती है।

(३) जिस योगी को समाधिस्थ होने के कारण समस्त आत्माओं में एक ज्ञानाकारता का निश्चय हो गया है। जो बाह्य समस्त प्राकृत शरीराकृति के भेद को त्यागकर सब जीवात्माओं में अन्तर्यामी रूप में स्थित एक मुझ (परमात्मा) को ही ज्ञानाकार रूप में देखता है, वह योगी अपनी आत्मा में और सब भूतों में सदा मेरी समानता को ही देखता है।

(४) सर्वोत्कृष्ट योगी उसे कहते हैं जो अपनी तथा दूसरी आत्माओं को एक ज्ञानाकार रूप में समझता है, वह जैसे दूसरे के पुत्र का जन्म होने पर सुख और मरने पर दुःख का अनुभव नहीं करता है क्योंकि दूसरे के पुत्रादि से उसका सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार अपने पुत्र के जन्म-मरण में भी सुख-दुःखादि का अनुभव न कर समान बना रहता है अर्थात् अपने पुत्रादि के प्रति भी जिसकी आसक्ति नहीं हो उस प्रकार का योगी योग की अन्तिम सीमा पर पहुँचा हुआ माना जाता है।

दूसरे या अपने सुख-दुःखादि में किसी प्रकार की उसकी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं होता। यह यथार्थ आत्मा का निर्मल अवस्था है।

चार प्रकार के योगियों से श्रेष्ठ पंचम योगी वह है जो अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान का भजन करता है। प्रभु के वियोग को एक क्षण भी सहन नहीं करता है। जैसे जल से अलग होने पर मछली में बेचैनी हो जाती है। वह जल के वियोग में शरीर छोड़ देती है। उसी प्रकार इस योगी का जीवन भगवदधीन रहता है। वह सौशील्य, वात्सल्य सौन्दर्यादि अनन्त कल्याण के समुद्र श्रीभगवान का अनवरत चिन्तन, भजनादि में तल्लीन रहता हैं। जैसा कि श्री यामुनाचार्य स्वामी ने कहा है कि—

न देहं न प्राणान् न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत् किमपि तव शेषत्वविभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत् सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम्।।

अर्थात् भगवत्सेवा से एक क्षण के लिये भी विमुख हो जाने पर देह, प्राण, आत्मा तथा संसार का किसी भी प्रकार का अभीष्ट सुख नहीं चाहिए। बल्कि प्रभु से अलग होने में मेरे शरीरादि सौ टुकड़ों में विभक्त हो जायें। ऐसी ही दशा इस योगी भक्त की होती हैं अत एव भगवान ने उसे युक्ततम भक्त कहा है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।

भगवान ने क्यों माखन चुराया?

भगवान कृष्ण की मक्खन चोरी लीला प्रसिद्ध है; परन्तु इसका रहस्या क्या है, यह सबों को जान लेना चाहिए। श्रीकृष्ण भगवान नारायण के अवतार हैं। वे जन्मकाल में दिव्य चतुर्भुज नारायण स्वरूप में देवकी वसुदेव के समक्ष प्रकट हुए थे। वे माँ देवकी की प्रार्थना पर द्विभुज बन गये थे। नारायण अवाप्त समस्त काम होते हैं। उन्हें किसी चीज की चाह नहीं होती। एकमात्र संसारी बद्ध जीवों के उद्धार के लिए उनके समस्त कार्य होते हैं। लोभवश ही कोई किसी चीज की चोरी करता है। जिनके संकल्प मात्र से विश्व का सृजन, पालन, संहार और मोक्ष होते हैं। जो सभी चीजों से परिपूर्ण हैं, जो जन्म के बाद ही पूतना, तृणावर्त आदि का उद्धार किये, जिन्होंने अपने मुख में दो बार यशोदा जी को विश्व का दर्शन कराया, जो वत्सासुर, वकासुर, अघासुर आदि को मुक्त किया, जिनकी लीला से मोहित होकर ब्रह्मा ने व्रज के सभी गायों, बछड़ों और ग्वालवालों को अपहरणकर व्रज को विपत्ति में डालने का प्रयास किया, उस समय भगवान श्रीकृष्ण ने करोड़ों गाय, बछड़ा और ग्वालवाल स्वरूप बनकर ब्रह्मा के मोह को भङ्ग कर दिया जो सात वर्ष की अवस्था में एक हाथ से गोवर्धन पर्वत को उठाकर सात दिनों तक धारण किये रहे। उससे देवराज इन्द्र का अभिमान चूर्ण हो गया। जो यमुना कुण्ड में कुदकर कालियनाग का दमन किए। जिन्होंने दो बार जंगल में प्रज्वलित आग को पीकर व्रजवासियों को सुरक्षित बचा लिया। जिसने परशुराम प्रदत्त पाँच सौ पहलवानों के संरक्षण में रहने वाला कंस के धनुष को तोड़ डाला। जो एक हजार हाथी के समान बलवान कुवलयापीड-हाथी को मार डाला, जो अकेला बिना अस्त्र-शस्त्र के कंस के संरक्षक चाणुर आदि वीरों को मारकर कंस का संहार किया। जो सतरह बार जरासन्ध की तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेनाओं को धराशायी कर दिया। जिन्होंने समुद्र के बीच ४८ कोस लम्बी और बारह कोस चौड़ी द्वारकापुरी का निर्माण कराकर मथुरा वासियों को सुरक्षित स्थान में वास कराया। वैसे अनन्त कार्यों को अपनी शक्ति से पूर्ण करने वाले भगवान श्रीकृष्ण वाल्यकाल में दूसरों के घर रात्रि में ग्वालवालों के साथ मक्खन चूराकर खायें यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है। यशोदा-नन्द के एक ही पुत्र श्रीकृष्ण थे। नन्द जी के पास नौ लाख गायें थी। उनके घर दूध दही और मक्खन की कमी नहीं थीं। फिर श्रीकृष्ण को अपने घर का मक्खन प्रिय क्यों नहीं लगता था।

भगवान भक्तों की इच्छा के अनुसार लीला करते हैं। व्रज की गोपियाँ भगवान की वाल्यलीला दर्शन से विशेष आनन्द अनुभव करती थीं। अपने प्रिय सखा ग्वालवालों के साथ व्रज में मक्खन चोरी लीला भगवान गोपियों की इच्छा के अनुसार उनकी प्रसन्नता के लिए करते थे।

ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रज बालकैः ।
सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन मुदम् ।।

(भाग०१०/८/२७)

अर्थात् व्रजवासियों के कन्हैया स्वयं भगवान हैं। वे बलराम और ग्वालवालों को अपने साथ लेकर व्रज में विभिन्न प्रकार के खेल से गोपियों को आनन्द प्रदान करते हैं।

जनयन् गोप गोपीनामानंदं बाल लीला ।
वयस्यैश्चोरयामास नवनीतं घृतं हरिः ।।

(गर्गसंहिता (गोलोकखण्ड)-१७/१७)

श्रीहरि अपनी बाललीला से गोपी-गोपियों को आनन्द प्रदान करते हुए ग्वालवालों के घरों में जा-जाकर माखन और घृत की चोरी करने लगे।

श्रीनन्दजी के घर में पर्याप्त मक्खन रहता था, व्रज की गोपियों का प्रेम होने के कारण वे सब अपने घर बुलाकर भी श्रीकृष्ण को मक्खन खिला सकती थी; परन्तु गोपियों को उसमें विशेष आनन्द अनुभव नहीं होता। वे चाहती थी कि श्रीकृष्ण स्वयं ग्वालवालों के साथ आकर मक्खन खायें

उससे मक्खन अपहरण लीला को देखने में हमें विशेष आनन्द मिलेगा। गोपियाँ श्रीकृष्ण की मधुर एवं शान्त लीला देखती और अनुभव करती थीं। वे रात में दही जमाते समय श्यामसुन्दर के दिव्य स्वरूप का ध्यान करती हुई यह अभिलाषा करती थीं कि मेरा दही सुन्दर जमे, उससे अधिक माखन निकालूँ और उतने ही ऊँचे छीके पर रखूँ जितने पर श्रीकृष्ण का हाथ आसानी से पहुँच सके। श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ आवें और माखन चुराकर खायें और अपने सखाओं एवं वान्दरों को भी खिलावें। हम छिपकर उनको माखन खाते हुए अपनी आँखों देखकर जीवन को सफल बनायें।

एक दिन श्रीयशोदा जी भगवान श्रीकृष्ण को मेवा, पकवान आदि खाने को दे रही हैं। श्रीकृष्ण ने यशोदा से कहा कि माँ मुझे ये सब अच्छे नहीं लगते। माखन ही प्रेम से खाता हूँ। उस समय व्रज की युवती श्रीकृष्ण की बात को सुन रहीं थीं। उसके मन में भाव आया कि मेरे घर भी श्रीकृष्ण माखन खाते तो मुझे आनन्द मिलता। भगवान ने व्रज युवती के भाव को समझकर उन्हें आनन्द देने के लिए माखन चुराकर खाने लगे।

प्रथमकरि हरि माखन चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करिपूरन,
आपु भजे व्रज खोरी।।
मन में यह विचार करत हरि,
व्रज घर-घर सब जाऊँ।
गोकुल जनम लियौ सुखकारन,
सबकै माखन खाई।।
बालरूप जसुमति मोहि जानै,
गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं,
ये मेरे व्रज लोग।।
व्रज घर-घर प्रगटी यह बात।
दधि माखन चोरी करि लै हरि,
ग्वाल सखा संगखात।
व्रज वनिता यह सुनि मन हरषित,
सदन हमारैं आवै।।
माखन खात अचानक पावै,
भुज भरि उरहिं घुपावैं।
मनहीं मन अभिलाष करति सब,
छदय धरति यह ध्यान।
सूरदास प्रभु कौं घर में लै,
दैहों माखन खान।।

दक्षिण भारत के आलवार सन्तों ने भगवान श्रीकृष्ण द्वारा मक्खन चोरी का रहस्य इस प्रकार प्रकट किया है—

वे भगवान से कहते हैं कि आपने क्यों माक्खन की चोरी की? क्या वह आपको दुर्लभ था? अर्थात् माँगने पर क्या कोई आपको पर्याप्त माक्खन नहीं देता था? व्रजवासी सभी लोग आपसे बहुत प्यार करते थे। अत: आपको माँगने पर वे नि:संकोच अपना सभी माक्खन दे देते। ऐसा लगता है कि आपको माँगना अच्छा नहीं लगा। माँगकर नवनीत खाने में आपको रस न मिला। चोरी करने से ही अनेक प्रकार की आपकी लीलायें बनीं। इसी प्रकरण में रस्सी में बाँधकर आपने अपने परिपूर्ण सौलभ्य गुण प्रकाशित किया है। माक्खन खाना ब्याज मात्र था। चोरी कर उखल में बँध जाना ही आपका प्रधान लक्ष्य था।

अहो! समस्त जनता को संसार बन्धन से छुड़ा देने में समर्थ भगवान ने श्रीकृष्णावतार में माक्खन की चोरी करने पर माता द्वारा रस्सी से उखल में बाँधे गये और उससे अपने को छुड़ाने में असक्त होकर रोते-रोते थक गये। भगवान के इस सौलभ्य गुण का आलवारों ने विशेष चिन्तन किया। इसी गुण के कारण भगवान श्रीकृष्ण सभी गोपियों के लिए सुलभ बन गये। उन्होंने माखन चोरी के बहाने सभी गोपियों का हृदय चुरा लिया।

वक्त्रम्वहन् परम् गोपगृहेषु किं त्वम्।
गोपीमनांसि नवनीतमुताभ्यमोषीः।।

भगवान अनादि हैं

भगवान सौशील्य, वात्सल्य, सौलभ्य, ज्ञान, बल, क्रिया आदि अनन्त कल्याण गुणों के निधि हैं, उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस रूप में भगवान के दिव्य गुणों और उनकी अनन्त विभूतियों का ज्ञान होने पर उनमें प्रेम उत्पन्न होता है और जैसे-जैसे प्रभु के दिव्य गुणों और विभूतियों का ज्ञान होता है, वैसे-वैसे उनमें उत्तरोत्तर भक्ति की वृद्धि भी होती है। जो इन्द्रियातीत विषयों को जानने वाले विशेष ज्ञान सम्पन्न देवता और महर्षिगण है, वे भी भगवान के स्वरूप, नाम, कर्म और प्रभाव आदि को नहीं जानते हैं, क्योंकि उन देवों एवं महर्षियों के आदि कारण भगवान ही हैं, वे ही पुण्यों के अनुसार ज्ञान, शक्ति आदि देकर देवत्व तथा ऋषित्व(पद) प्रदान करते हैं। भगवान में ज्ञान, शक्ति, बल आदि अनन्त कल्याण गुण नैसर्गिक हैं, अत एव श्रीयामुनाचार्यस्वामी ने आलवन्दारस्तोत्र में लिखा है कि—

स्वाभाविकानवधिकातिशयेशितृत्वं
नारायण त्वयि न मृष्यति वैदिकः कः ।
ब्रह्मा शिवः शतमखः परमः स्वराडि
त्येतेऽपि यस्य महिमार्णवविप्रुषस्ते ।।

हे नारायण! ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, नित्यसूरि ये सभी आप के महिमा रूपी समुद्र की बूँद हैं। इतनी महिमावान आप में स्वाभाविक तथा अत्यन्त श्रेष्ठ स्वामित्व को वेद जानने वाला कौन न मानेगा।

भगवान को पुण्य के अनुसार ज्ञान, बलादि नहीं मिले हैं। वे अवाप्त समस्त काम एवं ***'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्'*** समर्थ हैं। देवताओं एवं ऋषियों में पुण्य के अनुसार प्राप्त ज्ञान, बल आदि गुण परिमित होते हैं। इसीलिए भगवान के स्वरूप, गुण आदि का यथार्थ ज्ञान देवताओं एवं ऋषियों को नहीं होता है। ब्रह्मा इन्द्रादि देवों ने कृष्णावतार से पूर्व भगवान विष्णु से प्रार्थना की थी। तदनन्तर भगवान कृष्ण का अवतार हुआ था, उन भगवान कृष्ण की गायों को चूराकर ब्रह्मा लेकर चले गये थे, तदनन्तर जब भगवान की महिमा उन्हें ज्ञात हुई तब उन्होंने गायों एवं ग्वालवालों को लौटाकर भगवान कृष्ण से क्षमा माँगीं। व्रज में इन्द्र के निमित्त होने वाली वार्षिक पूजन को भगवान कृष्ण ने बंद करवा दिया, उससे कूपित होकर इन्द्र ने व्रज को जलमग्न करने के लिए मेघ से कहकर मूसलधार वर्षा करवाया। जब भगवान श्रीकृष्ण व्रजवासियों को बचाने के लिए एक हाथ पर गोवर्धन पर्वत को उठा लिये। उससे व्रजवासी पूर्ण सुरक्षित रह गये। भगवान श्रीकृष्ण की महिमा को न समझने के कारण इन्द्र ने व्रज को जलाप्लावित करने के लिए ऐसा किया था। भगवान सात दिनों तक गोवर्धन पर्वत को उठाकर व्रजवासियों को बचा लिए तब इन्द्र को ज्ञात हुआ कि कृष्ण कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं किन्तु सर्वशक्तिमान परमात्मा हैं।

भगवान के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान भक्ति की उत्पत्ति के विरोधी पापों का नाशक है—

यो मामजन्मनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

अर्थात् मनुष्यों में जो आत्मज्ञान सम्पन्न मनुष्य अजन्मा अनादि और सब लोकों के स्वामी के रूप में परमेश्वर को जानता है, वह मेरी भक्ति की उत्पत्ति में विरोधी समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।

इस श्लोक में भगवान के लिए तीन विशेषण दिये गये हैं—अज, अनादि और लोकमहेश्वरम्।

यहाँ अज का अर्थ है जन्म रूप विकार से रहित जड़ पदार्थ में उत्पत्ति रूप विकार होता रहता है। बद्ध जीवों का भी कर्मानुसार जड़ शरीर से सम्बन्ध रूप जन्म होता है, परन्तु भगवान का जन्म

नहीं होता। इसलिए जड़ पदार्थ और बद्ध जीव इन दोनों से भगवान विलक्षण हैं।

इससे पूर्व श्लोक में भगवान ने अपने को देवताओं और महर्षियों को आदि कहा है। वहाँ आदि का अर्थ है आदिकारण ब्रह्मा आदि सब प्राणियों की उत्पत्ति में भगवान कारण हैं।

इस श्लोक में भगवान अपने को अनादि कहते हैं। अनादि का अर्थ है जिसकी उत्पत्ति में कोई आदि (कारण) नहीं हो। इसका भाव है कि मुक्त-पुरुष जो संसार के बन्धन से छूटकर वैकुण्ठ चले गये हैं उनका भी जन्म नहीं होता है। इसीलिए अजन्मा वे भी हैं; परन्तु अनादि नहीं हो सकते; क्योंकि मुक्ति से पूर्व जब तक इस भूतल पर थे तब तक उनका जन्म होता रहा है, जिसका जन्म कभी भी हुआ हो वह अनादि नहीं हो सकता। भगवान कभी भी कर्मवश जन्म नहीं लेते हैं। इसलिए अजन्मा होते हुए अनादि हैं। यही कारण है कि भगवान मुक्त-पुरुष से भी विलक्षण हैं। जगत् में जो मानव कर्मानुसार राजा होता है, उसमें अधिकार शक्ति अधिक होती है। वह जन्मादि विकारों में अन्य मनुष्य के समान होता है। ब्रह्मा कर्मानुसार देवताओं एवं ब्रह्माण्ड के अधिपति बन जाते हैं। वे भी जन्मादि विकारों में सांसारिक जीवों के समान हैं। श्रुतिवचन के अनुसार ब्रह्मा की भी रचना होती है। जो अणिमादि सिद्धि प्राप्त किये हुए योगी होते हैं, वे भी कर्म के वश में होने के कारण बद्ध जीवों के समान ही होते हैं। भगवान राजाओं और ब्रह्मा के ऊपर शासन करने वाले तथा उनके स्वामी हैं। इसलिए उन्होंने अपने को लोकमहेश्वर कहा है। लोकामहेश्वर का अर्थ है समस्त लोकों का महान् ईश्वर। भगवान को नित्य सूरिगण से विलक्षण सिद्ध करने के लिए भी लोकमहेश्वर शब्द आया है।

नित्य सूरिगण सदा नित्य धाम वैकुण्ठ में भगवान की सेवा में संलग्न रहते हैं। वे भी अज और अनादि हैं; किन्तु लोकमहेश्वर नहीं है। अत: भगवान श्रीकृष्ण बद्ध, मुक्त और नित्य जीवों से विलक्षण सिद्ध होते हैं।

परमहंस स्वामी राजेन्द्रसूरि सेवा संस्थान

(लोकनाथ महादेव रोड, आँख अस्पताल के बगल में)

ग्राम-शंकरपुर, पो०-खदीपास, जगन्नाथपुरी—(उड़ीसा)

भगवदानुरागी भक्तो!

आप सबों के लिए दु:खद समाचार है कि पुरी के परम वैष्णव सन्त ***अनन्तश्री रामचन्द्र स्वामी*** (थानापति स्वामी) जी का जून माह में वैकुण्ठवास हो गया है। आप एक उच्च कोटि के कर्मयोगी सन्त थे, बिहार प्रान्त से जाकर पुरी में जगदीश की आराधना करते हुए आपने अनेक प्रकार के यशस्वी कार्य सम्पन्न किए हैं। आपका अपनी परम्परा के प्रति भी अपार श्रद्धा थी। आपने ***अनन्तश्री विभूषित श्रीस्वामी रङ्गरामानुजाचार्य जी माहाराज*** की अध्यक्षता में एक एकड़ भूमि दान देकर ***'परमहंस स्वामी राजेन्द्रसूरि सेवा संस्थान'*** नामक ट्रस्ट की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। इस ट्रस्ट के माध्यम से अनेक प्रकार के पारमार्थिक (सेवा केन्द्र) चलाने की उनके मन की सङ्कल्पना थी, जिसका दायित्त्व आज हम भक्तों के ऊपर भगवान जगदीश ने दे दिया है। अत: आप सभी वैष्णव भक्तों को चाहिए कि उपर्युक्त ट्रस्ट को सर्वविध सहयोग देकर सम्बल प्रदान करें।

नेत्ररोग निवारक मन्त्र

धर्मशास्त्र, वेद एवम् उपनिषद आदि में बताया गया है कि सूर्य मन्त्र का जप तथा गायत्री की उपासना से चक्षु रोग नष्ट होते हैं और नेत्र में अच्छी ज्योति प्राप्त होती है। प्रतिदिन प्रातःकाल स्नानादि करने के बाद अपने इष्टदेव की पूजा कर चाक्षुषोपनिषद् का पाठ करने से सभी प्रकार के नेत्र रोग नष्ट होते हैं। इससे नेत्र का तेज बढ़ता है और स्वच्छ दृष्टि होती है।

अथ श्रीचाक्षुषोपनिषद—

अथातश्चाक्षुषीं पठितां सिद्धविद्यां चक्षुरोगहरां व्याख्यास्यामः । यच्चक्षुरोगाः सर्वतो नश्यन्ति चाक्षुषी दीप्तिर्भविष्यति इति ।।१।। अस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषि गायत्रीछन्दः सूर्योदेवता चक्षुरोग निवृत्तये जपे विनियोगः ।।२।। ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुस्तेजः स्थिरो भव । मां पाहि पाहि । त्वरितं चक्षुरोगान् शमय शमय । मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय । यथाऽहमन्धो न स्याम तथा कल्पय कल्पय । कल्याणं कुरु कुरु । यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुष्प्रतिरोधक दुष्कृतानि तानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय ।।३।। ॐ नमश्चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय । ॐ नमः करुणाकराय अमृताय । ॐ नमः सूर्याय । ॐ नमो भगवते सूर्याय । ॐ अक्षितेजसे नमः । खेचराय नमः । महते नमः । रजसे नमः । तमसे नमः ।।४।। ॐ असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतं गमय । उष्णो भगवान शुचिरूपः । हंसो भगवान शुचिरप्रतिरूपः ।।५।। य इमां चाक्षुष्मतीं विद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति । न तस्य कुले अन्धो भवति । अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति ।।६।। ॐ विश्वरूपं घृणिन जातवेदसं हिरण्यं पुरुषं जयोतिरूप तपन्तम् । विश्वस्य योनि प्रतपन्तमुग्र पुरः प्रजानामुदत्येष सूर्यः ।।७।। ॐ नमो भगवते आदित्याय अहावाहिने स्वााहा ।।८।। ॐ वयः सुपर्णाऽउपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधाऽऋषयो नाधमानाः । अपध्वान्तमूर्णहि पूर्ब्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ।।९।। ॐ पुण्डरीकाक्षाय नमः पुष्करेक्षणाय नमः । अमलोक्षणाय नमः । कमलेक्षणाय नमः विश्वरूपाय नमः महाविष्णवे नमः ।।१०।।

इति श्री चाक्षुषोपनिषद् समाप्ता

हे वेङ्कटेश! मैं आपकी शरण लेता हूँ

हे वेदान्तवेद्य! लोक व्यापार के अनुसार तुम सभी जीवों का पोषण करते रहते हो, मैं एक ओर तुम्हारी मूर्ति को अपने मन में सोचकर, स्थापित कर, तुम्हारे साथ खुले तौर पर बातें करते हुए विविध प्रकार के मनोरथों की पूर्ति करते हुए समय बिता रहा हूँ। यह तुम्हारे उद्योग (काम-धन्धे) में अलसत्व पैदा करना तो नहीं होगा न? ऐसा नहीं होगा। तुम विश्वतोमुख हो, इसलिए सबसे बातें कर सकते हो। परिपूर्ण हो, इसलिए सब जगह रह सकते हो। इसमें हमारा कोई दोष नहीं है। तुम अनन्त शक्तिधर हो। अनेक महिमाओं से युक्त हो। अपरिमित उदार गुणवाले हो। अतः ऐसे तुम्हारे माहात्म्य की शरण मैं लेता हूँ। कृपया हे श्रीवेङ्कटेश्वर! उद्धार करो।

वास्तु-विचार

(गृह-निर्माण में सावधानी)

जगत् में सभी प्राणियों को घर की आवश्यकता होती है। मानव, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि प्राणियों में कोई भी गृह के बिना नहीं रह सकता। गृहस्थ का समस्त सुख घर पर ही आधारित है। परन्तु स्वतन्त्र रहने वाले पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि के मकान में किसी प्रकार का विचार नहीं है; क्योंकि वे सब शास्त्रानधिकारी प्राणी है। जो वैदिक और स्मार्त कर्म करने के अधिकारी हैं उनके लिए घर सम्बन्धी विचार शास्त्रों में प्रस्तुत किये गये हैं।

मत्स्य पुराण में लिखा है कि गृहस्थ के सम्पूर्ण श्रोत-स्मार्त कर्म बिना गृह के सिद्ध होते ही नहीं।

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्धयन्ति गृहं विना।

गृहस्थ के सम्पूर्ण लौकिक या पारलौकिक कर्म सम्पादन का आधार घर ही होता है। अत एव ''अथातः शालाकर्म'' ''पुण्याहे शालां कारयेत्'' आदि गोभिल गृह सूत्रों के द्वारा गृह निर्माण पर विशेष प्रकार डाला गया है।

मकान के लिए प्रथम जमीन पर विचार करना चाहिए, जिसमें मकान बनाना चाहते है वह जमीन मकान बनाने योग्य है या नहीं। जमीन का विचार बाहर और भीतर दोनों प्रकार से किया जाता है। मकान के अन्दर जमीन में केश, राख और हड्डी रहने पर मकान में रहने वालों की हानि होती है। केश और राख से कम हानि तथा हड्डी से विशेष हानि है। इसलिए मकान बनाने से पूर्व ज्योतिष शास्त्र के अनुसार केश, राख और हड्डी का विचार कर ले। अगर उन में एक भी हो तो निकाल दे। इसी को शल्य विचार कहते हैं। शल्य का अर्थ होता है चुभने वाला। भूमि की परीक्षा रस, गन्ध और रंग से भी होती है। मधुर रस और गन्ध वाली पृथ्वी में वास करने वाला सुखी होता है। इसी तरह श्वेत वर्णवाली, जिसमें कुश-काश उगे हो या अच्छी फसल होती हो वह भूमि मकान के लिए उत्तम होती है।

भूमि चार प्रकार की होती है, गजपृष्ठ, कूर्मपृष्ठ, दैत्यपृष्ठ और नाग पृष्ठ। दक्षिण, पश्चिम, नैऋत्य और वायव्य कोण कीं ओर ऊँची भूमि को गज पृष्ठ कहते हैं। उस भूमि पर मकान बनाकर रहने वालों को धन तथा आयु की वृद्धि होती है।

बीच में ऊँची और चारों ओर नीची भूमि को कूर्मपृष्ठ कहते हैं। उसमें वास करने वालों को उत्साह, सौख्य तथा धन-धान्य का लाभ होता है। पूर्व, अग्नि और ईशान कोण में ऊँची तथा पश्चिम दिशा में नीची भूमि को दैत्यपृष्ठ कहते हैं। उस भूमि में वास करने वाला व्यक्ति धन, पुत्र तथा पशु आदि से रहित हो जाता है। पूर्व-पश्चिम की ओर लम्बी और उत्तर-दक्षिण की ओर ऊँची भूमि को नागपृष्ठ कहते हैं। उस भूमि पर वास करने वालों को उच्चाटन, मृत्यु, स्त्री आदि की हानि तथा शत्रुओं की वृद्धि होती है। अतः गजपृष्ठ और कूर्मपृष्ठ भूमि में ही मकान बनाना चाहिए। मकान में लम्बाई और चौड़ाई के अनुसार आय-व्यय आदि होते हैं। उनका भी विचार कर लेना आवश्यक है। पूर्व-पश्चिम लम्बा मकान में विशेष हानि होती है। अतः वैसा मकान न बनावे। मकान और मकान मालिक के साथ विवाह की तरह मेलापक का भी विचार कर ले।

मकान दक्षिण से बनाना प्रारम्भ करे। उत्तर या पूर्व का भाग पहले बन जाने पर दक्षिण और पश्चिम

बनाने में विशेष कठिनाई होती है। मकान में दक्षिण भाग ऊँचा रहे उसके बाद क्रमशः पश्चिम, उत्तर और पूर्व भाग नीचा रहना चाहिए। मकान में उत्तर भाग ऊँचा और दक्षिण नीचा तथा पूर्व ऊँचा और पश्चिम नीचा रहने पर विशेष हानि होती है। मकान में दक्षिण ओर घर नहीं रहने पर आर्थिक हानि और पश्चिम ओर घर न रहने पर पारिवारिक हानि होती है।

द्वार विचार-मकान में जिधर द्वार रखना हो उसे नौ बराबर भाग कर दे। घर से बाहर निकलने में जो दाहिने हो उधर पाँच भाग और बायें तीन भाग छोड़कर बीच के एक भाग में द्वार बनाना अच्छा होता है। वास्तु शास्त्र में घर से निकलते समय दाहिनी ओर अधिक रखने का विधान है। घर में प्रवेश करते समय दाहिनी ओर अधिक रखने का विधान नहीं है।

घर में प्रवेश करते समय दाहिनी ओर अधिक रखे और वायीं ओर कम ऐसा कहने वालों का कथन शास्त्र विरुद्ध है। एतदर्थ निम्नलिखित प्रमाण देखना चाहिए—

नव भागं गृहं कृत्वा पञ्च भागं तु दक्षिणे।
त्रिभागमुत्तरे कार्यं शेषं द्वारं प्रकीर्तितम्।।
दक्षिणाङ्गः त वै प्रोक्तो मन्दिरान्निःसृते सति।
यो भूयाद् दक्षिणे भागे वामे भूयात्स वामगः।।

मकान से निकलने वाला द्वार कोना में न रखे। कोना का द्वार दुःख, शोक और भय देने वाला होता हैं। इसी तरह बीच में भी द्वार न बनावे। बीच के द्वार धन-धान्य का नाश, कलह और स्त्रियों में दोष उत्पन्न करता है।

एक से मिलते हुए दो मकान न बनावे अर्थात् एक भिति पर अपना भी दो मकान नहीं होना चाहिए। वह मकान यमराज के समान होता है। इससे मालिक का विनाश होता है।

नाली विचार—घर से बाहर पानी निकलने के लिए बनाई गयी नाली यदि पूर्व दिशा की ओर हो तो शुभ, अग्नि, कोण (पूर्व दक्षिण) में नाली रहने से मृत्यु, दक्षिण में निर्धनता, नैर्ऋत्य कोण (दक्षिण पश्चिम) में क्षय, पश्चिम में पुत्रनाश, वायव्य कोण (पश्चिम उत्तर) में सुख, उत्तर में सम्पत्ति की वृद्धि, ईशान कोण (उत्तर पूर्व) में नाली रखने से धन प्राप्ति होती है।

शुभं मृतिश्च निर्धनं क्षयं च पुत्रनाशनम्।
सुखं च राज्यसम्पदा धनं क्रमेण पूर्वतः।।

मकान में कुआँ, कल आदि बनाने का विचार—घर के मध्य में कूप निर्माण धन के लिए हानिकारक होता है। ईशान (पूर्वोत्तर कोण) में पुष्टि, पूर्व में ऐश्वर्य वृद्धि, अग्नि (पूर्व दक्षिण) कोण में पुत्रनाश, दक्षिण में स्त्रीविनाश, नैऋत्य कोण (दक्षिण पश्चिम) घर के मालिक की मृत्यु, पश्चिम में शुभ, वायव्य कोण (पश्चिमोत्तर) में शत्रु से पीढ़ा और वास्तु के उत्तर में कूप निर्माण गृहस्वामी के लिए शुभ होता है।

कूपे वास्तोर्मध्येदेशेऽर्थ-
नाशस्त्वैशान्यादौ पुष्टिरैश्वर्यवृद्धिः।
सूतोर्नाशः स्त्रीविनाशो मृतिश्च
सम्पत्पीडा शत्रुतः स्याच्च सौख्यम्।।

अभिप्राय यह है कि मकान बनाते समय सावधानी पूर्वक ऊपर वर्णित विषयों पर ध्यान देते हुए ही निर्माण करना चाहिए।

कुम्भ-महापर्व

एक समय देवों और दानवों ने अमरत्व प्राप्त करने के लिये मन्दराचल पर्वत को मथानी और वासुकी नाग को रस्सी की जगह प्रयोग करके समुद्र मन्थन किया था। उसमें सहयोग के लिये भगवान विष्णु कछुआ के रूप में आधार बन गये थे। मन्थन काल में चौदह रत्न (विष, ऐरावत हाथी, उच्चै:श्रवा घोड़ा, लक्ष्मी, कौस्तुभमणि आदि) निकले थे। अधिकारी के अनुसार सब रत्न वितरित हो गये। चौदहवाँ रत्न अमृतपूर्ण कुम्भ निकला। उसके लिये देवगण और दानव दोनों को लोभ हो गया। दैत्यों के भय से देव अमृतपूर्ण कुम्भ को छिपाने का प्रयास करने लगे। दैत्यों ने उनका पीछा किया। उसके लिये बारह दिनों तक देवासुर संग्राम हुआ। देवताओं ने उस अमृतपूर्ण कुम्भ को चार-चार स्थानों में छिपाने का प्रयास किया—प्रयाग, हरिद्वार, नासिक और उज्जैन। अमृतपूर्ण कुम्भ से अमृत छलक कर इन चार स्थानों में गिरा। इन्हीं स्थानों में कुम्भ योग होता है। उस सयम सूर्य, चन्द्र और वृहस्पति ने अमृत कुम्भ की रक्षा की है। शनि भी उसकी रक्षा में थे।

पुरा प्रवृत्ते देवानां दैत्यैः सह महारणे।
समुद्रमन्थनात्प्राप्तः सुधाकुम्भः तथासुरैः।।
तस्मात् कुम्भात्समुक्षिप्तसुधाबिन्दुर्महीतले।
अत्र यत्रापतत् तत्र कुम्भपर्वं प्रकल्पितम्।।
विष्णुद्वारे तीर्थराजे अवन्त्यां गोदावरी तटे।
सुधाविन्दुविनिक्षेपात् कुम्भपर्वेति विश्रुतम्।।

(स्कन्दपुराण)

देवासुर संग्राम में कुम्भ को चन्द्रमा ने गिरने से, सूर्य ने फूटने से, वृहस्पति ने दैत्यों से और शनि ने इन्द्र से बचाया है। अत: इन्हीं ग्रहों के संयोग से कुम्भपर्व का विशेष पुण्ययोग निर्धारित होता है।

चन्द्रः प्रस्त्रवणात् रक्षां सूर्यो विस्फोटनाद्यध।
दैत्येभ्यश्च गुरुर्रक्षां सौरिरैन्द्रजाद्क्षयात्।।

वृहस्पति एक राशि पर एक वर्ष रहते हैं। इस तरह बारह वर्षों में वे एक बार सभी राशियों पर घूम जाते हैं। जब वृष राशि पर वृहस्पति और सूर्य तथा चन्द्रमा मकर राशि पर होते हैं तब तीर्थराज प्रयाग में कुम्भयोग होता है और उसके छठे वर्ष में अर्द्धकुम्भ योग होता है।

मकरे च दिवानाथे वृषे च वृहस्पतौ।
कुम्भयोगो भवेत्तत्र प्रयोगे ह्याति दुर्लभः।।

प्रयागराज में माघ मास में यह योग होता है। हमारे देश के प्राचीन मनीषीगण सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने हेतु समयानुसार विविध पर्वों का आयोजन करते थे, जिनका उद्देश्य समाज में राष्ट्रीयता एवं भावनात्मक एकता का सूत्रपात करना था। राष्ट्रीय एवं भावनात्मक एकता के लिये आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न प्रदेशों एवं देशों से परिचित हो तथा उनसे सम्पर्क स्थापित करे। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर भारत के चार विभिन्न स्थलों–हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन एवं नासिक में कुम्भ पर्व का आयोजन किया जाता रहा है। हरिद्वार एवं प्रयाग ये दो स्थान उत्तर भारत में तथा उज्जैन एवं नासिक दक्षिण भारत में है।

सामाजिक एकता, सांस्कृतिक विचार-विनिमय, भावनात्मक एकता, धार्मिक एवं शास्त्रीय विचारों का आदान-प्रदान, अन्य क्षेत्रीय परम्पराओं एवं भाषाओं आदि के समन्वय हेतु इन पर्वों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आज भी इन पर्वों पर देश के कोने-कोने से एवं विदेश से असंख्य लोग प्रयाग में एकत्र होते हैं। ये विशिष्ट पर्व इस उद्देश्य से भी आयोजित किये जाते हैं कि इनमें विभिन्न स्थानों से साधु, संन्यासी, योगी, विद्वान्, उच्च कोटि के

साधक तथा मनीषिगण अपने ज्ञानामृत एवं उपदेशामृत द्वारा धर्म एवं कर्त्तव्य के प्रति बोध करायें, जिससे जन साधारण की सामाजिक, राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक चेतना का जागरण हो।

महाभारत में कद्रु-विनता की कथा के अनुसार अपनी माँ विनता को कद्रु से दासी भाव छुड़ाने हेतु श्री गरुड़ जी इन्द्रलोक में देवराज इन्द्र को पराजित कर अमृत कुम्भ को विष्णुलोक में ले जाते हुये हरिद्वार-प्रयाग, उज्जैन और नासिक ठहरे थे। तभी से चारों स्थानों में कुम्भोत्सव का प्रादुर्भाव हुआ।

कुम्भ महापर्व हमारे देश का अत्यन्त प्राचीन पर्व है। वेदों में कुम्भपर्व का उल्लेख मिलता है (ऋग्वेद–१०.८९.७) (अथर्ववेद–११.५३.३)। अथर्ववेद के ही एक मन्त्र में स्थल और समय के भेद से कुम्भ के चार प्रकार बतलाये गये हैं— ***'चतुरः कुभांश्चतुर्धा दधामि'***। अत: यह पर्व वैदिक काल की परम्पराओं में है। सहस्त्रों अश्वमेध यज्ञ, सौ वाजपेय यज्ञ तथा पृथिवी की एक लाख प्रदक्षिणा से जो फल प्राप्त होता है वह कुम्भ महापर्व में प्रयागराज तीर्थ में एक बार त्रिवेणी सङ्गम स्नान से प्राप्त होता है।

अश्वमेधसहस्त्राणि वाजपेयशतानि च।
लक्षं प्रदक्षिणा पृथिव्याः कुम्भस्नानेन तत्फलम्।।

प्रयाग में २०१३ ई० मुख्य स्नान

माघ कृष्ण पक्ष १४ शनिवार दिनांक ०९-०२-२०१३ ई० को दिन २ बजकर २२ मिनट से प्रयाग में महाकुम्भपर्व का मुख्य स्नान प्रारम्भ होगा। इसके अतिरिक्त पौष मास शुक्ल पक्ष ३ सोमवार दिन १४-०१-२०१३ ई० को, माघ शुक्ल ५ शुक्रवार १५-०२-२०१३ ई० तथा माघ शुक्ल १५ सोमवार दिनांक २५-०२-२०१३ ई० को अन्य मुख्य स्नान होगा।

तीर्थराज की महिमा

प्रयाग से विश्व के सभी तीर्थ उत्पन्न हुए हैं, अन्य तीर्थों से प्रयाग की उत्पत्ति नहीं है, यही कारण है कि प्रयाग को तीर्थराज कहते हैं।

प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर मिलता है—श्री पद्मपुराण के पाताल खण्ड के सातवें अध्याय में। श्लोक सात में लिखा है कि जिस प्रकार जगत् की उत्पत्ति ब्रह्माण्ड से होती है, जगत् से ब्रह्माण्ड उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार प्रयाग से अन्य तीर्थों की उत्पत्ति हुई है।

श्री वेणीमाधव ही सृष्टि, स्थिति और विनाश करने वाले हैं और वे ही इस प्रयाग क्षेत्र के अधिष्ठता हैं। वे लक्ष्मी के साथ प्रयाग में विराजते हैं और शाश्वत निवासस्थल अक्षयवट प्रयागक्षेत्र का शिरोमणि है। इस वटवृक्ष के पास त्रिशूलधारी शिव ताण्डव नृत्य करते हैं, जिससे प्रसन्न होकर भी माधव लक्ष्मी के साथ वृक्षराज अक्षयवट पर विराजते हैं, यही वेणीमाधव का अर्थ है। इसीलिए प्रयाग को वेणीमाधव क्षेत्र कहते हैं।

प्रयाग को विराट् पुरुष का मस्तक कहा गया है। सातों पुरियाँ (अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, काँची, उज्जैन और जगन्नाथपुरी उस विराट् पुरुष की सप्त धातुयें हैं। नदियाँ नाड़ी हैं, मेघ केश हैं और पर्वत् हड्डियाँ हैं। ऐसे विराट् पुरुष का मस्तक प्रयाग है, जहाँ त्रिवेणी है, नासिका के दोनों छिद्रों से इड़ा पिङ्गला और सुषुम्ना नाड़ियाँ चलती हैं। इड़ा का स्वभाव शीतल है, जो गङ्गा नदी है। पिङ्गला का स्वभाव उष्ण है, जो यमुना नदी है और गंगा-यमुना के मध्य में जो संगम है, उसका

स्वभाव शीतोष्ण है और वही सुष्मन नाड़ी है। इसी कारण संगमस्थल श्री वेणीमाधव का क्षेत्र कहा गया है। बाँयीं नासिकाछिद्र में जो ज्वर है, वह इड़ा का है, दाहिने में पिंगला का है और जब दोनों छिद्रों में स्वर चलता है तब सुषुम्ना नाड़ी चलती है। प्रयाग में गंगा बाँये भाग से आती हैं और यमुना दाहिने भाग से और दोनों का संगम पूर्व और दक्षिण कोण में, जिसे अग्निकोण कहते हैं, होता है। योग की दृष्टि से संगम का मूल है—इड़ा-पिंगला नाड़ियों के मूल का प्रत्यक्ष करना अर्थात् मुक्ति प्राप्त करना।

प्रयाग क्षेत्र का विस्तार पाँच कोश में है। इसमें षट्कोण हैं प्रयागवास सब यज्ञों में श्रेष्ठ कहा गया है। प्रयाग को षट्कूल क्षेत्र कहते हैं। गंगा के दो किनारे, यमुना के दो किनारे और संगम का दो किनारा सब मिलाकर प्रयाग में छः तट होते हैं। इसीलिए इसे षट्कूल क्षेत्र कहते हैं।

प्रयाग वेदी स्वरूप है, जो तीन प्रकार की है—अन्तर्वेदी, मध्यवेदी और बहिर्वेदी। इन तीन वेदियों के बीच निवास करने वालों के लिए प्रयाग क्षेत्र कल्पलता के समान फलदायी है। ज्ञानी अज्ञानी को यहाँ समान फल मिलता है। यहाँ ज्ञान और भक्ति की अविरल धारा बहती है और ब्रह्मज्ञान का प्रकाश होता रहता है। यहाँ एक रात्रि भी निवास करने वालों को भक्तिरूपी फल मिलता है। इसकी महत्ता को सर्वप्रथम ब्रह्मा ने समझा और यहाँ दस अश्वमेघ यज्ञ किए। उसी प्रयाग में अनन्त फल देने वाला दशाश्वमेध घाट है। गंगा के दशाश्वमेध घाट पर स्नान करने वाले वर्षपर्यन्त स्नान का फल प्राप्त करते हैं। प्रयाग विष्णुक्षेत्र है, किन्तु इसे विष्णु प्रजापति क्षेत्र भी कहते हैं। ब्रह्मा के दश अश्वमेध यज्ञों से प्रसन्न होकर माधव ने अपने क्षेत्र के साथ ब्रह्मा का नाम भी जोड़ दिया था।

ब्रह्मा के यज्ञ को सफल करके माधव वटवृक्ष की ओर चले तो वहाँ उन्होंने शिव को ताण्डव नृत्य करते देखा। शिव नृत्य करते समय माधव-माधव रट रहे थे। शिव को अपने प्रेम में निमग्न देखकर माधव ने वट के समीप ही उन्हें स्थान दिया जो शूलटंङ्केश्वर नाम से विख्यात है। श्रीमाधव ने अपने पास वासस्थान देने के बाद शिव को वरुणा और अस्सी नदियों के संगम पर निवास करने के लिए कहा, तभी से वाराणसी विश्वेश का निवास स्थान है।

जब शिव को श्रीमाधव स्थान निर्देश करके अन्तर्धान हुए तब शूल से गम्भीर नाद हुआ था इसी शूल के टङ्कार होने के कारण शिव का नाम शूलटङ्केश्वर पड़ा। प्रयाग में यज्ञादि कर्मों, दान, व्रत उपवास से पूर्वजन्म और दस जन्म में अर्जित होने वाले पापकर्मों से मुक्ति मिलती है और इस प्रकार प्रयाग में मुक्ति और भुक्ति दोनों प्राप्त होते हैं।

●

१४ का शेष...

...जो विवेकवैराग्य आदि के द्वारा मन की तरंगों से पूर्ण संदेह को और इन्द्रियरूपी समुद्र को लाँघ जाते हैं। **शूरास्त एवेह मनस्तरङ्गं देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति** (भो०वै०-२७/२)।

सत्कर्म करते-करते जिनके धैर्य का बन्धन कभी टूटता नहीं। ***'छिति जल पावक गगन समीरा'*** इन्हीं पाँचों के परस्पर मिलन से सारे पदार्थ हमें प्रतीत होते हैं। चेतन की सन्निधि के कारण ही दृश्यमान होते हैं। यह जगत् पाँच महाभूतों से अधिक दूसरी कोई वस्तु नहीं है। सब कुछ परिणामी है।

●

गृहारम्भ-मुहूर्त्त

१. कार्तिक शुक्ल दशमी शुक्रवार दिनाङ्क २३-११-२०१२ ई० लग्न कुम्भ दिवा (दिन) १२:२० से १:४८ तक।

२. अगहन कृष्ण प्रतिपदा गुरुवार दिनाङ्क २९-११-२०१२ ई० लग्न कुम्भ दिवा (दिन) ११:५५ से १:२४ तक।

३. अगहन कृष्ण द्वितीया शुक्रवार दिनाङ्क ३०-११-२०१२ ई० लग्न कुम्भ दिवा (दिन) ११:५० से १:२० तक।

४. अगहन कृष्ण पंचमी सोमवार दिनाङ्क ०३-१२-२०१२ ई० लग्न कुम्भ दिवा (दिन) ११:३२ से १:९ तक।

५. माघ कृष्ण चतुर्थी उपरापन्त पंचमी गुरुवार दिनाङ्क ३१-०१-२०१३ ई० लग्न सिंह शाम ९:२४ से ८:३२ तक। ●

जीर्णगृहप्रवेश-मुहूर्त्त

१. कार्तिक शुक्ल दशमी शुक्रवार दिनाङ्क २३-११-२०१२ ई० लग्न वृश्चिक दिवा प्रातः ९:१० से ८:२५ तक।

२. कार्तिक शुक्ल एकादशी शनिवार दिनाङ्क २४-११-२०१२ ई० लग्न मिथुन रात्रि ६:४८ से ९:१० तक। ●

नूतनगृहप्रवेश-मुहूर्त्त

१. माघ शुक्ल त्रयोदशी शुक्रवार दिनाङ्क ०८-०२-२०१३ ई० लग्न वृष दिवा (दिन) ११:२४ से १:१९ तक अष्टम स्थान में चन्द्र है। ●

द्विरागमन-मुहूर्त्त

१. **पूर्व से पश्चिम, ईशान कोण से नैऋत कोण**— कार्तिक शुक्ल अष्टमी बुधवार दिनाङ्क २१-११-२०१२ ई० लग्न मकर दिन में १०:४१ से १२:२५ तक।

२. **उत्तर से दक्षिण ईशान से नैऋत कोण**—अगहन कृष्ण द्वितीया शुक्रवार ता० ३०-११-२०१२ ई० लग्न कुम्भ दिन में ११:५० से १:२० तक।

३. **पूर्व से पश्चिम कोण**—अगहन कृष्ण पंचमी सोमवार दिनाङ्क ०३-१२-२०१२ ई० लग्न कुम्भ दिन में ११:३२ से १:९ तक।

४. **पूर्व से पश्चिम उत्तर से दक्षिण ईशान से नैऋत कोण वायु से अग्नि कोण**—अगहन कृष्ण द्वादशी सोमवार दिनाङ्क ११-१२-२०१२ ई० लग्न कुम्भ दिन में ११:०७ से १२:३५ तक। माघ शुक्ल तृतीया बुधवार दिनाङ्क १३-२-२०१३ ई० लग्न कुम्भ ९:४० से ७:५५ तक।

५. **पूर्व से पश्चिम ईशान से नैऋत कोण**—माघ शुक्ल पक्ष तृतीया बुधवार १३-०२-२०१३ लग्न कुम्भ ६:४० से ०७:५५ तक।

६. माघ शुक्ल चौथ उपरान्त पंचमी गुरुवार दिनाङ्क १४-०२-२०१३ ई० लग्न वृष दिन में १०:५८ से १२:५२ तक। ●